(देश देशान्तरों में प्रचारित, उच्च कोटि का आध्यात्मिक मासिक-पत्र)

वार्षिक मू० २॥)

सन्देश नहीं मैं स्वर्ग लोक का लाई।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई॥

एक अंक ≈)

सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सहा० सम्पादक—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए०

वर्ष ६] मथुरा, १ जनवरी सन् १९४८ ई० [अंक १

अपनी शक्तियों को विकसित कीजिए।

परमेश्वर ने सबको समान शक्तियां प्रदान की हैं। ऐसा नहीं कि किसी में अधिक किसी में न्यून हो, किसी के साथ खास रिआयत की गई हो। परमेश्वर के यहाँ अन्याय नहीं। समस्त अद्भुत शक्तियां तुम्हारे शरीर में विद्यमान हैं। तुम उन्हें जागृत करने का कष्ट नहीं करते। कितनी ही शक्तियों से कार्य न लेकर तुम उसे कुंठित कर डालते हो। अन्य व्यक्ति उसी शक्ति को किसी विशेष दिशा में मोड़कर उसे अधिक परिपुष्ट एवं विकसित कर लेते हैं। अपनी शक्तियों को जागृत तथा विकसित कर लेना अथवा उन्हें शिथिल पंगु, निश्चेष्ट बना डालना स्वयं तुम्हारे ही हाथ में है। स्मरण रखिए, संसार की प्रत्येक उत्तम वस्तु पर तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है। यदि तुम अपने मन के गुप्त महान् सामर्थ्यों को जागृत कर लो और लक्ष्य की ओर प्रयत्न, उद्योग और उत्साह पूर्वक अग्रसर होना सीख लो तो जैसा चाहो आत्म निर्माण कर सकते हो। मनुष्य जिस वस्तु की आकांक्षा करता है—उसके मन में जिन महत्वाकांक्षाओं का उदय होता है और जो २ आशा पूर्ण तरंगें उदित होती हैं, वे अवश्य पूर्ण हो सकती हैं—यदि वह दृढ़ निश्चय द्वारा अपनी प्रतिज्ञा को जागृत कर ले।

अतएव प्रतिज्ञा कर लीजिए कि आप चाहे जो कुछ हों, जिस स्थिति, जिस वातावरण में हों, आप एक कार्य अवश्य करेंगे—वह यही कि अपनी शक्तियों को ऊंची से ऊंची बनायेंगे।

मथुरा १ जनवरी सन १९४८

सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर।

अनावश्यक, अनुपयोगी, अवाञ्छनीय, आवश्यकताओं को लोग बढ़ाते जारहे हैं। इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। अधिक धन कमाने के लिए अधिक परिश्रम, अधिक चिन्ता और अधिक अनीति बरतनी पड़ती है। ईमानदारी और उचित मार्ग से मनुष्य एक सीमित मर्यादा में पैसा कमा सकता है। उससे इतना ही हो सकता है कि जीवन का साधारण क्रम यथावत् चल सके। अन्न, वस्त्र, घर, शिक्षा, आतिथ्य आदि की आवश्यकताओं भर के लिए आसानी से कमाया जासकता है, पर इन बढ़ी हुई अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे हो?

हमने अनावश्यक जरूरतों का अन्धाधुन्ध बढ़ा लिया है। फैशन के नाम पर अनेकों विलासिता की चीजें खरीदी जाती हैं इग्लैण्ड के ठंडे प्रदेश में जिन चीजों की जरूरत पड़ती थी वे फैशन के नाम पर हमारे गरमदेश में भी व्यवहृत होती हैं। सादा के स्थान पर भड़कदार, कम मूल्य वाली के स्थान पर अधिक मूल्य वाली खरीदना आज एक बड़प्पन का चिन्ह समझा जाता है। शारीरिक श्रम करके पैसे बचा लेना असभ्यता का चिन्ह समझा जाता है। इस प्रकार आकर्षक वस्तुओं की तड़क भड़क की ओर आकर्षित होने के कारण अधिक पैसे कमाने की जरूरत पड़ती है।

विवाह शादियों में, मृतभोजों तथा अन्य उत्सवों पर अनावश्यक खर्च किये जाते हैं। अपने को अमीर साबित करने के लिए फिजूल खर्ची का आश्रय लिया जाता है। जो जितनी बेपरवाही से, जितना अधिक पैसा खर्च कर सकता है वह उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है। विवाह शादी के समय ऐसी बेरहमी के साथ पैसा लुटाया जाता है जिससे अनेकों व्यक्ति सदा के लिए कर्जदार और दीन हीन बन जाते हैं। जिनके पास लुटाने को, दहेज देने को धन नहीं उनकी सन्तान का उचित विवाह होना कठिन होजाता है। समाज में वे ही प्रतिष्ठित और बड़े समझे जाते हैं, जिनके पास अधिक धन है।

आज के मनुष्य का दृष्टि कोण अर्थप्रधान होगया है। उसे सर्वोपरिवस्तु धन प्रतीत होता है और उसे कमाने के लिए बेतरह चिपटा हुआ है। इस मृग तृष्णा में सफलता सबको नहीं मिल सकती। जो अधिक सक्षम, क्रिया कुशल, अवसरवादी एवं उचित अनुचित का भेद न करने वाले होते हैं वे ही चन्द लोग बाजी मार लेजाते हैं। शेष को जी तोड़ प्रयत्न करते हुए भी असफल ही रहना पड़ता है। कारण यह है कि परमात्मा ने धन उतनी मात्रा में पैदा किया है जिससे समान रूप से सबकी साधारण आवश्यकताएं पूरी हो सकें। छीना झपटी में कुछ आदमी अधिक ले भागें तो शेष को अभावग्रस्त रहना पड़ेगा। उनमें से कुछ के पास कामचलाऊ चीजें होंगी तो कुछ बहुत दीन दरिद्र रहेंगे। यह हो नहीं सकता कि सब लोग अमीर बन जावें।

आज गरीब भिखमंगे से लेकर, लक्षाधीश धन कुबेर तक, ब्रह्मचारी से लेकर सन्यासी तक लोगों की वृत्तियां धन संचय की ओर लगी हुई हैं। जब कोई एक उद्देश्य, प्रधान होजाता है तो और सब बातें गौण होजाती हैं। आज जन साधारण का मस्तिष्क, देश, जाति, धर्म, सेवा, स्वास्थ्य, कला, संगीत, साहित्य, संगठन, सुरक्षा, सुसन्तति, मैत्री, यात्रा, मनोरंजन आदि की ओर से हट गया है और धन की तृष्णा में लगा हुआ है। इतना होने पर भी धनवान तो कोई विरला ही बन पाता है पर इन जीवन की अत्यन्त महत्व पूर्ण आवश्यकताओं से सबको वंचित रहना पड़ता है।

अब से पचास चालीस वर्ष पहले के समय पर हम दृष्टि पात करते हैं तो मालूम पड़ता है कि उस समय लोगों की दिनचर्या में धन कमाने के लिए जितना स्थान रहता था—उससे अधिक समय वे अन्यान्य बातों में खर्च किया करते थे। मनोरंजन खेल, संगीत, रामायण पढ़ना, किस्से कहानियां, पंचायतें, पैदल तीर्थ यात्रायें, सत्संग, परोपकार आदि के बहुत कार्यक्रम रहते थे। बालकों का बचपन—खेलकूद और स्वतंत्रता की एक मधुर स्मृति के रूप में उन्हें जीवन भर याद रहता था। पर आज तो विचित्र दशा है। छोटे बालक, प्रकृति माता की गोदी में खेलने से वंचित करके स्कूलों के जेलखाने में इस आशा से बन्द कर दिये जाते हैं कि बड़े होने पर वे नौकरी चाकरी करके कुछ अधिक धन कमा सकेंगे। लोग इन सब कामों की ओर से—सामाजिक सहचर्य की दिशा से मुंह मोड़ कर बड़े रूखे नीरस, स्वार्थी, एकाकी, बेमुरव्वत होते जाते हैं। जिसे देखो वही कहता है—"मुझे फुरसत नहीं।" क्यों फुरसत नहीं? भला-इतने समय में करते क्या हो? शब्दों के हेर फेर से एक ही उत्तर मिलेगा—धन कमाने की योजना में लगा हुआ हूं।

इस लोभ प्रधान मनोवृत्ति ने हमारा कितना सत्यानाश किया है इसकी ओर आंख उठाकर देखने की किसी को फुरसत नहीं। स्वास्थ्य चौपट होरहे हैं, बीमारियां घर करती जारही हैं, आयु घटती जारही है, इन्द्रियां समय से पहले जवाब देजाती हैं, चिन्ता हर वक्त सिर पर सवार रहती है, रात को पूरी नींद नहीं आती, चित्त अशान्त रहता है, कोई सच्चा मित्र नहीं जिसके आगे हृदय खोल कर रख सकें, चापलूस, खुदगर्ज, लुटेरे और बदमाश दोस्तों का भेष बना कर चारों ओर मंडराते हैं, स्त्री पुरुषों में एक दूसरे के प्रति प्राण देने की आत्मीयता नहीं. सन्तान की शिक्षा दीक्षा का कोई टिकाना नहीं अयोग्य लोगों के सहचर्य से उनकी आदतें बिगड़ती जारही हैं, परिवार में मनोमालिन्य रहता है। मस्तिष्क में नाना प्रकार के भ्रम, जंजाल, अज्ञान अन्धविश्वास घुस हुए हैं, चित्त में अहंकार, अनुदारता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, असंयम का डेरा पड़ा हुआ है, समाज से श्रद्धा सहयोग और सहानुभूति की प्राणवायु नहीं मिलती, मनोरंजन के बिना हृदय की कली मुर्झा गई है। धर्म, त्याग, सेवा, परोपकार, सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान के बिना आत्मा मुर्झाई हुई पड़ी है। इस प्रकार जीवन की सभी दिशाएँ अस्त व्यस्त हो जाती हैं, चारों ओर भयंकर आरण्य में निशाचर विचरण करते दिखाई पड़ते हैं। हर मार्ग में कूड़ा करकट झाड़ झंखाड़ पड़े दीखते हैं। कारण स्पष्ट है—मनुष्य ने धन की दिशा में इतनी प्रवृत्ति बढ़ाई है कि केवल उसी का उसे ध्यान रहा है और शेष सब ओर से उसने चित्त हटालिया है। जिस दिशा में प्रयत्न न हो, रुचि न हो, आकांक्षा न हो, उस दिशा में प्रतिकूल परिस्थितियों का ही विनिर्मित होना संभव है। उत्तम तो वही क्षेत्र बनता है जिस ओर मनुष्य श्रम और रुचि का आयोजन करता है।

अब से थोड़े समय पूर्व लोगों के पास अधिक धन न होता था, वे साधारण रीति से गुजारा करते थे, पर उनका जीवन सर्वाङ्गीण सुख से

परिपूर्ण होता था। वे थोड़ा धन कमाते थे पर एक एक पाई को उपयोगी कार्यों में खर्च करके उससे पूरा लाभ उठाते थे । आज अपेक्षाकृत अधिक धन कमाया जाता है पर उसे इस प्रकार खर्च किया जाता है कि उससे अनेकों शारीरिक एवं मानसिक दोष दुर्गुण उपज पड़ते हैं और क्लेश कलह की अभिवृद्धि होती है । सुख की उन्नति की आशा से—सब कुछ दाव पर लगाकर आज मनुष्य धन कमाने की दिशा में बढ़ रहा है पर उसे दुख और अवनति ही हाथ लगती है।

गृहस्थ संचालन के लिए धन कमाना आवश्यक है, इसके लिए शक्ति अनुसार सभी प्रयत्न करते हैं और करना भी चाहिए। क्योंकि भोजन, वस्त्र, गृह, शिक्षा, आतिथ्य, आपत्ति आदि के लिए धन आवश्यक है। पर जितनी वास्तविक आवश्यकता है उसे तो परिवार के सदस्य मिल जुल कर आसानी से कमा सकते हैं । दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं—हाय हाय तो मनुष्य धनवान बनने के लिए किया करता है। इस परिग्रह वृत्ति ने हमारे जीवन को एकांगी, विशृंखलित एवं जर्जरीभूत कर दिया है। रोटी को हम नहीं खाते, रोटी हमें खाये जारही है।

हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन बुरी दशा में है। उसमें अगणित दोषों का समावेश होगया है। इसे सुधारने और संभालने के लिए हमारी अधिक से अधिक शक्तियां लगने की आवश्यकता है, यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो हम सब निकट भविष्य में ऐसे गहरे गड्ढे में गिरेंगे कि उठना कठिन होजायगा। चारों ओर से विपत्ति के बादल आरहे हैं, यदि आत्म रक्षा का प्रयत्न न किया गया तो यह धन, जिसकी तृष्णा से सिर उठाने के लिए फुरसत नहीं, यही एक भारी विपत्ति बन जायगा। हमें बेतरह लुटना पड़ेगा।

खुदगर्जियों को छोड़िए, "अपने मतलब से मतलब" रखने की नीति से मुंह मोड़िए, धनी बनने की नहीं—महान् बनने की महत्वाकांक्षाएं कीजिए, आवश्यकताएं घटाइए, जोड़ने के लिए नहीं जरूरत पूरी करने के लिए कमाइए, शेष समय और शक्ति को सर्वाङ्गीण उन्नति के पथ पर लगने दीजिए। संचय का भौतिक आदर्श—पश्चिमी सभ्यता का है, भारतीय आदर्श त्याग प्रधान है, इसमें अपरिग्रह का महत्व है, जो जितना संयमी है, जितना संतोषी है वह उतना ही महान बताया गया है ! क्योंकि जो निजी आवश्यकताओं से शक्ति को बचालेगा वही तो परमार्थ में लगा सकेगा । हम मानते हैं कि जीवन विकास के लिए पर्याप्त साधन सामिग्री मनुष्य के पास होनी चाहिए। पर वह तो योग्यता और शक्ति की वृद्धि के साथ साथ प्राप्त होती है। आज लोग योग्यताओं को, शक्तियों को, बढ़ाने की दिशा में प्रयत्न नहीं करते वरन् जो कुछ लगड़ी लूली शक्ति है उसको धन की मृगतृष्णा पर स्वाहा किये देरहे हैं । नगण्य, लंगड़ी लूली शक्तियोंसे अधिक धन कमाया जाना असंभव है। ऐसे लोगों के लिए तो बेईमानी ही अधिक धन कमाने का एक मात्र साधन होता है।

आइए, मनुष्य जीवन का वास्तविक आनन्द उठाने की दिशा में प्रगति करें। धन लालसा के संकीर्ण दायरे से ऊपर उठें, अपनी आवश्यकताओं को कम करें और जो शक्ति बचे उसे शारीरिक, सामाजिक एवं आत्मिक सम्पदाओं की वृद्धि में लगावें, उस के द्वारा ही सर्वाङ्गीण सुख शान्ति का आस्वादन किया जासकेगा।

प्रेम समुद्र से भी गहरा होता है । जिस प्रकार समुद्र किनारे को सदा स्वच्छ सुन्दर रखता है, उसी प्रकार प्रेम भी हृदय को प्रफुल्लित रखता है।

दुष्ट के साथ मित्रता व प्रीति कदापि न करनी चाहिए । अंगार जब गरम होता है, तब हाथ को जला देता है, और ठंडा होने पर काले हाथ कर देता है।

धर्म और दर्शन को अलग २ रखिए ।

(श्री० स्वामी सत्यभक्तजी वर्धा)

बहुत से लोग दर्शन-शास्त्रों की और स्वर्ग नरक आदि की दुहाई देकर धर्मों की आलोचना करने लगते हैं, यह धर्म तो ईश्वर नहीं मानता था ऐसा मानता है, वैसा मानता है आदि। मैं कहता हूं ये फजूल के झगड़े हैं धर्मशास्त्र का काम नीति, सदाचार, प्रेम और मनुष्यता का पाठ पढ़ाना है, इसलिये धर्म को या धर्मशास्त्र को हम इसी नजर से देखें । दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, प्राणिशास्त्र आदि का विचार स्वतन्त्र रूप से करें । इनसे सम्बन्ध रक्खें, सहयोग स्थापित करें, पर इन शास्त्रों की बातों के विरोध को धर्म का विरोध न समझें ।

गणित के अनुसार दो और दो चार होते हैं । अब इस बारे में यह विचार करना व्यर्थ है कि हिन्दू-धर्म के अनुसार कितने होते हैं और इस्लाम के अनुसार कितने होते हैं। गणित पर हिन्दू, इस्लाम, जैन आदि की छाप लगाना उचित नहीं। इस तरह जब मुझ से कोई पूछे कि कलकत्ता से नागपुर कितने मील है ? मैं कह दूंगा सात सौ मील। तब क्या कोई यह पूछेगा कि हिन्दू-धर्म के अनुसार कितने मील है और इस्लाम के अनुसार कितने मील ? यदि इस बात का सम्बन्ध धर्म-शास्त्र से नहीं है, तो हिन्दुस्तान कितना बड़ा है इसका सम्बन्ध धर्म-शास्त्र से कैसे हो जायगा और यदि हिन्दुस्तान की रचना का सम्बन्ध धर्म-शास्त्र से नहीं है, तो एशिया या पृथ्वी का कैसे हो जायगा ? जब पृथ्वी का नहीं तब ब्रह्मांड का कैसे हो जायगा ? धारा तो एक ही है, एक ही शास्त्र का विचारणीय विषय है। तब इन बातों का सम्बन्ध हम धर्म-शास्त्र से कैसे जोड़ सकते हैं ? इसीलिए मैं कहता हूं कि धर्म-शास्त्र को धर्म-शास्त्र रहने दीजिये, दुनिया भर के शास्त्र और उनके झगड़े धर्म-शास्त्र पर न लादिये। अगर आप धर्म का पालन करना चाहते हैं, धर्मात्मा बनना चाहते हैं, तो प्रेम का, सेवा का, ईमानदारी का और त्याग का व्रत लीजिये, दुनिया की भलाई में अपनी भलाई समझिये। दर्शन आदि की चर्चा को इस झगड़े में न लाइये, जैसा आपको जंच जाय वैसा मान लीजिये, पर उसका उपयोग नीति और सदाचार को बढ़ाने में कीजिये। हमारा पहिला और मुख्य काम सुखी बनना और जगत को सुखी करना है। सब बातें और सब धर्म इसी के लिये है। इस बारे में महात्मा बुद्ध के विचार ध्यान देने लायक हैं । उन्होंने बड़े अच्छे ढङ्ग से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी।

एक बार आनन्द ने--(बुद्ध के एक मुख्य शिष्य ने) बुद्ध से पूछा—भगवन् ! सभी लोग परलोक आदि के बारे में कुछ न कुछ निश्चित बात कहा करते हैं पर आप कुछ नहीं कहते यह क्या बात है ?

इसके उत्तर में भ० बुद्ध ने बहुत सी बातें कहने के साथ कहा—देखो आनन्द, जङ्गल में एक आदमी जा रहा था, उसको तीर लगा जिससे बड़े जोर से खून की धारा बहने लगी। खून की धारा देखकर उसका पहिला कार्य क्या है ? वह पहिले खून की धारा बन्द करे या 'तीर किसने बनाया' आदि बातों की खोज करे ?

आनन्द ने कहा—खून बन्द करना पहिला काम है।

भ० बुद्ध ने कहा—तो बस, संसार में जो तृष्णा आदि के घाव प्राणी को लगे हैं, उनका बन्द करना पहिला काम है। उसी के लिये मैंने चार आर्य सत्य बतलाये हैं । तृष्णा आदि के बन्द होने पर परलोक आदि कैसा भी हो, तृष्णा आदि हटा देनेवाले का भला ही है । उसकी चिन्ता अभी से क्यों की जाय ? मरने के बाद जैसा होगा देख लिया जायगा।

सामाजिक एकता की ओर बढ़ो

(श्री० दौलतराम कटरहा बी० ए० दमोह)

ऋग्वेद काल में आर्य गण एक साथ मिलकर यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य किया करते थे और प्रार्थना करते थे कि, हे प्रकाश—स्वरूप स्वामिन् हमारे हृदय में ऐसा प्रकाश करिए कि हम सब एक दूसरे से मिलकर रहें। हमारे घर धन-धान्य से भर पूर रहें (संसमिधु व से वृषन्नग्ने...) अपने सफल जीवन बनाने के वास्ते हम सब मिलकर चलें, मिलकर बात चीत करें और एकमत होकर हम सब अपनी जीवन—यात्रा पूरी करें जैसा कि पहिले के विद्वान करते थे (संगच्छध्वं संवदध्वं...) हमारी सभाएं, हमारे मन, हमारे विचार, हमारी काम करने की शैली, एक जैसी अविरुद्ध हों (समानो मन्त्रः समितिः समानी...) हमारे शुभ संकल्प एक जैसे हों, हमारे मन और हृदय अविरुद्ध हों जिससे हम एक दूसरे की यथा समय सहायता कर सकें। हम कभी अपने आपको अकेला न समझें और पड़ोसी, मुहल्ले वालों, नगर-निवासियों और देशवासियों की सहायता करने पर तत्पर रहें (समानीव आकूतिः...) यज्ञ आदि के मिस से ही प्राचीन काल के आर्यगण एक स्थान पर सम्मिलित होकर सामूहिक मंत्रणाएं किया करते थे, उनके कार्य-परस्पर अविरुद्ध होते थे जिससे उनका सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन संगठित था, उसमें पारस्परिक फूट और विच्श्रृंखलता नहीं थी और इसी कारण उस काल में भारत उच्चता के शिखर पर आसीन था और समस्त विश्व का गुरु था। प्राचीन आर्य जीवन आज की अपेक्षा अधिक सामाजिक और सुसंस्कृत था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति, वैयक्तिक सुख, स्वतंत्रता, कीर्ति, अधिकार आदि की आकांक्षाओं को भूलकर सार्वजनिक सुख को ही जीवन का ध्येय बनाना चाहता था। सार्वजनीन यज्ञों की प्रचुरता और उपयुक्त प्रार्थनाएं ही इस बात के यथेष्ठ प्रमाण हैं।

आज हिंदू जाति अत्यन्त असंगठित और असहाय है। वह संसार की अन्य जातियों की तुलना में कम सामाजिक है और इसीलिए वह साम्प्रत काल में विदेशियों द्वारा पद दलित होती रही है। उसकी इस दुरवस्था का कारण यही जान पड़ता है कि उसने उपरोक्त प्रार्थनाओं में जो आदेश और सामाजिक आदर्श का चित्रण है उस पर यथोचित ध्यान नहीं दिया और उसने अपनी विचार-धारा और कार्य प्रणाली को एक समान बनाने का सफल प्रयत्न नहीं किया। पारस्परिक मतभेद के कारण हिंदू जाति आज अत्यन्त जर्जरित है और यदि वह अपने आपको नहीं संभालती तो भय है कि कहीं जीवन-संग्राम में वह पराजित न हो जावे और अन्य जातियां उसे आत्म-सात् न कर लें। अतएव यह उपयुक्त अवसर है कि हम यह जान लें कि किस तरह हम आज अपनी रक्षा कर सकते हैं? और वे कौन से कारण हैं जिनके कारण विजयी आर्यजाति आगे चलकर बहुत समय तक पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी पड़ी रही ?

संसार की जातियों के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रत्येक जाति अपने पूर्व इतिहास, जातीय और धार्मिक साहित्य तथा संस्कृति से प्रभावित रहती है। उसके जातीय जीवन के अन्तस्तल में एक विशेष भाव या खयाल ही काम करता नजर आता है और वही जातीय जीवन को चलाता है। कोई जाति देश-प्रेम से अधिक प्रभावित रहती है तो कोई धर्म-प्रेम की भावना से। इस दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होगा कि हमारे जातीय जीवन के अन्तस्तल में जो विशेष खयाल काम कर रहा है वह है सांसारिक दुखों से निवृत्ति या आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति की इच्छा। यह खयाल बहुत अच्छा है किंतु आज तो यह खयाल हमारे अन्दर अकेले ही जोर पकड़ गया है और फल-स्वरूप लोक-सेवा की दृष्टि से कार्य करने के पूर्वजों के विचार

तथा इस विचार को मर्यादित रखने के लिए अन्य विचार दब से गए हैं। अच्छे से अच्छा विचार भी जब किसी समाज में अकेले ही जोर पकड़ जाता है तब वह उसे समाज को नीचे ढकेल देता है। इस कारण हमारी विचार-धारा और जीवन के असंतुलित होने से यह विचार हमारे असामाजिक जीवन का जन्म दाता बन हमारे पतन का कारण बन गया है। हिंदुओं में मायावाद का विचार तथा यह विचार कि हमें अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुरूप ही इस जन्म में सुख दुख मिल रहे हैं इसी विचार से सम्बन्ध रखते हैं और यह सभी जानते हैं कि ये विचार हमारे समाज में अत्यन्त प्रबल हैं। प्रकट है कि ये विचार हमें सामाजिक पुनःरचना के प्रति उदासीन एवं निश्चेष्ट बनाने की प्रवृत्ति रखते हैं। इस तरह ये विचार हमारी भौतिक एवं राजनीतिक दुर्गति के कारण बन रहे हैं। इनके फल स्वरूप हमारे समाज के अनेकों कल्याण कामी व्यक्तियों के जीवन का लक्ष्य संसार को मिथ्या मानकर तथा प्रिय परिजनों एवं समाज की सेवा को मोह एवं बन्धन का कारण मानकर और इसलिए संसार से भागकर आत्म-कल्याण करना तथा प्राचीन ऋषियों के ध्येय के विपरीत सन्यास लेकर लोक-हितकारी कर्त्तव्यों से विरत रहना बन गया है। इसी कारण हिन्दू जाति अन्य जातियों के मुकाबले में अधिक सामाजिक नहीं हो पाई और साम्प्रतकाल में बहुधा विदेशी आक्रमण कारियों द्वारा पराजित होती रही।

आज भी हमारी भक्ति-पद्धति कुछ इस तरह की है कि हम जनता-जनार्दन की सेवा कर जनार्दन को तुष्ट करने के स्थान में केवल नाम जप द्वारा ही उन्हें तुष्ट करना अधिक सुलभ जानकर केवल नाम-जप को ही अधिक पसंद करते हैं। इस तरह हमारी भक्ति-पद्धति अभी तक हमें अधिकतर समाज से भागकर ही सामाजिक सुख-दुखों से अनासक्त रहने वाला और उसके सुख-दुखों से कम सम्बन्ध रखने वाला बनाती रही है और हमने अभी थोड़ा ही समय हुआ कि तिलक जैसे गीता-पंडित के द्वारा कर्मयोग और महात्मा गांधी जैसे मनीषी द्वारा अनासक्त रहते हुए भी कर्म करते रहने का पाठ फिर से पढ़ना आरम्भ किया है। जब कि अभी तक सदाचारी, विद्वान और श्रेष्ठजनों पर मायावाद का प्रभाव समाज के बंधनों को तोड़कर सांसारिक जीवन से दूर भगाकर उन्हें असामाजिक बना देना ही रहा है तब योग्य कर्णधारों के अभाव में समाज और भी अधिक असामाजिक और विश्रृंखल न होता तो क्या होता? किंतु यदि हम लोग भगवान कृष्ण के कर्मयोग के संदेश को कि "यद्यपि मुझे संसार में कुछ भी अप्राप्त और अप्राप्य नहीं है तथापि मैं फिर भी कर्म करता ही रहता हूं" पहिले से ही न भूलते तो संभव है कि हमें ये दुर्दिन देखने को न मिलते।

हिन्दू जाति की यह दुरवस्था तब से हुई जब से कि हमारे सामाजिक जीवन से एकता लुप्त हो गई और हम अनेक दिशाओं में जाने लगे। हमारा सामाजिक पतन तब से आरंभ हुआ जब से कि हमने एक साथ मिलकर बातचीत करना एवं एक साथ मिलकर विचार करना छोड़ दिया और हमने अपने सामाजिक संगठन के सर्वोत्तम प्रतीक एवं आधार सार्वजनीन यज्ञों का भी परित्याग कर दिया। आर्य लोग समय समय पर एक ही स्थान पर सम्मिलित होकर सामूहिक मंत्रणाएं किया करते थे किंतु जब से हमने स्वतंत्र-रूप से विचार करने के साथ साथ एक ही विचार-धारा पर पहुंच कर एक जैसा कार्य करने के उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह करना छोड़ दिया तब से हम भिन्न भिन्न दिशाओं में गमन करने लगे और हमारे एक सूत्र में बंधकर कार्य करने की आशा जाती रही। लोग अपनी अपनी ढपली पर अपना अपना राग अलापने लगे और हमारी राष्ट्रीय एकता लुप्त हो गई। इस पृथकता को मिटाकर हम सामाजिक एकता की ओर बढ़ें इसी में हमारा कल्याण है।

चिड़चिड़ापन-एक अभिशाप

(प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए०)

मानव स्वभाव के दुर्गुणों में चिड़चिड़ापन आन्तरिक मन की दुर्बलता का सूचक है। सहिष्णुता के अभाव में मनुष्य बात बात में चिढ़ने लगता है, नाक भौं सकोड़ता है, प्रायः गाली गलौज देता है। मानसिक दुर्बलता के कारण वह समझता है कि दूसरे उसे जान बूझ कर परेशान करना चाहते हैं, उसके दुर्गुणों को देखते हैं, उनका मजाक उड़ाते हैं। किसी पुरानी कटु अनुभूति के फलस्वरूप वह अत्यधिक संवेदनशील हो उठता है और उसकी भावना ग्रन्थियां उसकी गाली गलोज या बेढंगे व्यापारों में प्रकट होती हैं।

चिड़चिड़ेपन के रोगी में चिंता तथा शक शुबे की आदत प्रधान है। कभी २ शारीरिक कमज़ोरी के कारण, कब्ज, परिश्रम से थकान, सिरदर्द, नपुंसकता के कारण आदमी तिनक उठता है। अपनी कठिनाइयों तथा समस्याओं को उद्दीप्त होकर देखते देखते उसे गहरी निराशा हो जाती है। चिड़चिड़ापन एक पेचीदा मानसिक रोग है। अतः प्रारंभ से ही इसके विषय में हमें सावधान रहना चाहिए।

जिस व्यक्ति में चिड़चिड़ेपन की आदत है, वह सदा दूसरों के दोष ढूढ़ता रहता है। वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में तो बुरा होता ही है, स्वयं भी एक अव्यक्त मानसिक उद्वेग का शिकार रहता है। उसके मन में एक प्रकार का संघर्ष चला करता है। वह भ्रमित कल्पनाओं का शिकार रहता है। उसके संशय ज्ञान-तन्तुओं पर तनाव डालते हैं। भ्रम बढ़ता रहता है और वह मन ही मन ईर्षा की अग्नि में दग्ध होता रहता है। वह क्रोधित, भ्रान्त, दुःखी सा नजर आता है। तनिक सी बात में उसकी उद्विग्नता का पारावार नहीं रहता। गुप्त मन पर प्रारंभ में जैसे संस्कार जम जाते हैं, उनके फलस्वरूप ऐसा होता है। यह आदत से पड़ने वाला एक संस्कार है।

रोग से मुक्ति के साधन।

मन में दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि चिड़चिड़ापन बुरा है। हम उसे अपने स्वभाव में से निकालना चाहते हैं। हम दूसरों के बोलने, हंसने, मजाक, या कामों से नहीं चिढ़ेंगे। हम उनकी परवाह न करेंगे। अपने स्वभाव में मृदुता लावेंगे, सरस बनेंगे, सहिष्णु बनेंगे।

मनुष्य के मन में सत् तथा असत् दोनों प्रकार के विचारों का क्रम चला करता है। हमें अपने दुर्बल विचारों के प्रति बड़ा सतर्क रहना चाहिए। जब कोई चिंता, या निराशा जनक बात मन में आवे, आप उसके प्रतिकूल भावना का उद्रेक कीजिये। चिड़चिड़ेपन के दमन के लिए मृदुता, प्रसन्नता, सहानुभूति की भावना अत्यन्त लाभ दायक है। प्रबलता से मन में शुभ संकल्प जाग्रत कीजिए।

जब कभी आपको क्रोध आवे तो आप मन ही मन कहिए, "दूसरों से गलती हो ही जाती है। मुझे दूसरों की गलतियों पर क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। यदि दूसरे गलती करते हैं, तो उसका यह मतलब नहीं कि मैं और भी बड़ी गलती कर उसका प्रतिशोध लूं। मैं शुभ संकल्प वाला साधक हूं। शुभ संकल्प के फलित होने के लिए उद्विग्न मन होना उचित नहीं। हम सहिष्णु बनेंगे। दूसरे स्वयं अपनी गलती का अनुभव करेंगे। हम धैर्य धारण करें।"

जितना ही आप विचारों को ऊपर लिखित भावनाओं पर एकाग्र करेंगे, उतना ही बल आपको मिलेगा। पुनः पुनः दृढ़ता से उन में रमण करने से स्वभाव बदल जायगा, प्रकृति मधुर बन जायगी। आवेश को रोकने से मन को बल मिलेगा।

अपने दैनिक व्यवहार में प्रेमी, सहानुभूति-पूर्ण, सौम्य और प्रसन्नमुद्रा से काम लीजिये।

सेवाव्रती साधुओ ! आओ !!

(श्री स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक)

हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की सेवा के व्रती लाखों साधु संन्यासी, भारतवर्ष के, ग्रामों, कस्बों और नगरों में स्वतन्त्रता से विचरते हैं। हिन्दू जाति के इस घोर संकट के समय उनका क्या कर्तव्य है ? इस विषय पर कुछ लिखना अनुचित न होगा । क्योंकि जो प्रभाव हिन्दू जनता पर इन विरक्तों का पड़ता है, वह और किसी का नहीं पड़ सकता। अविद्या अन्धकार में सोई हुई हिन्दू जनता को यह महात्मा लोग बहुत शीघ्र जगा सकते हैं । उनका सिंहनाद हिन्दू सन्तान में नई जान फूंक सकता है। छोटे से छोटे कस्बे में सन्त महात्माओं के मठ बने हुए हैं, जहां से हिन्दू-संगठन का काम बड़ी आसानी से हो सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि साधु सन्त हिन्दू संगठन के उद्‌देश्य को भली प्रकार जानें।

हिन्दू जनता आज कैसी दीनावस्था में है, उस पर विधर्मी गुण्डे कैसा संगठित प्रहार कर रहे हैं, यह सब देख कर कौन ऐसा साधु संन्यासी होगा, जिसका हृदय न फटता हो। हिन्दू गृहस्थ सदा श्रद्धा और प्रेम से साधुओं की सेवा करते हैं, देवियां बड़ी भक्ति भाव से विरक्तों की पूजा करती हैं, आज उन विरक्तों को हिन्दू गृहस्थों के प्रति अपना अपना कर्तव्य पालने का समय आ गया है। प्रत्येक साधु को दण्ड और कमण्डलु उठाकर, हिन्दू संगठन के काम में लग जाना चाहिए। ग्राम ग्राम और कस्बे कस्बे में घूम कर अज्ञानी जनता को चैतन्य करना चाहिए, और उसे स्वार्थी लोगों के हथकंडों से बचाना चाहिए। कोई नगर, कोई कस्बा, हिन्दू संगठन से संघ, से खाली न रहे। बड़ी शान्ति से गृहस्थों को समझा बुझाकर ऐसे विचार फैलावें, कि जिससे हिन्दू फौलादी दीवार की तरह संगठित हो जावें, और कोई उन्हें सता न सके।

जो साधु महात्मा देश जाति और धर्म की सेवा करना चाहते हैं, वे अब कमर कस कर तैयार हो जांय और संगठन के बिगुल को हाथ में लेकर नगर नगर में इसे बजाते हुए घूमें। आज बैठने का समय नहीं, जिससे जो कुछ हो सकता है उसे उतना काम करना ही चाहिए। हिन्दू संगठन की इस जागृति के काल में जो साधु महात्मा इस महाप्रतापी हिन्दू जाति की सेवा करेगा, उसका नाम भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।

यदि हम अपने भगवे कपड़े को सार्थक करना चाहते हैं, तो हमें हिन्दू संगठन का कठिन व्रत लेना होगा। स्थान स्थान पर व्यायाम शालायें खुलवा कर, हिन्दू बच्चों में क्षात्र-धर्म का तेज भरना होगा। उनको उन्नत-मार्ग दिखलाना होगा, लाखों साधु आज इस धर्मक्षेत्र में आकर अपने जीवन को पवित्र बना सकते हैं। धर्म की सेना में आज ऐसे लाखों विरक्तों की आवश्यकता है। इसलिए आइए हम साधुओं का जबर्दस्त संगठन कर हिन्दू जाति की सेवा में लग जायें इसी में हमारा कल्याण है।

इस मधुर स्वभाव का प्रभाव आपके कुटुम्ब पर तथा समाज पर बहुत अच्छा पड़ेगा। सुखशान्ति से जीवन व्यतीत करने के लिए मिष्टभाषी और मधुर स्वभाव सर्वोत्तम तत्त्व हैं । मधुरता का प्रवाह तुम्हारे इर्द गिर्द वातावरण में फैल जायगा। चिड़चिड़ा होना आपकी एक बड़ी कमजोरी है, मधुरता से, सरसता और प्रसन्नता से उसे ठीक कर लीजिये। ऐसे मधुर वचन बोलिये कि छोटे बच्चे आपके चारों ओर आकर्षित होकर चले आयें, पत्नि प्रसन्न हो उठे, नौकर भी प्रसन्नता से आपकी आज्ञा बजा लायें। संकल्प की दृढ़ता, आवेश को रोकने तथा मधुर आदर्श सामने रखने से निश्चय ही आप चिड़चिड़ेपन से छुटकारा पा सकेंगे।

रामकृपा से धर्म रक्षा।

(महात्मा गान्धी)

तीन अवसरों पर मैं पतन से ईश्वर-कृपा द्वारा बच गया। तीनों अवसर वार-बधुओं से सम्बन्ध रखते हैं। दो के पास विभिन्न अवसरों पर मुझे मित्रगण ले गये थे। पहले अवसर पर झूठी शर्म का मारा मैं वहां जा फंसा और यदि ईश्वर ने न बचाया होता तो जरूर मेरा पतन होजाता। जिस घर में मैं ले जाया गया वहां उस स्त्री ने ही मेरा तिरस्कार किया। मैं यह बिल्कुल नहीं जानता था कि ऐसे मौकों पर किस तरह क्या कहना चाहिये,और किस तरह बरतना चाहिये। इससे पहले ऐसी स्त्रियों के पास तक बैठने में, मैं अपमान समझता था। इसी कारण ऐसे घर में घुसते समय भी मेरा हृदय कांप रहा था। मकान में घुसने के बाद उसके चेहरे की तरफ भी मैं न देख सका। मुझे पता नहीं कि उसका चेहरा था भी कैसा! ऐसे मूढ़ को वह चपला क्यों न निकाल बाहर कर देती? उसने मुझे दो-चार बातें सुनाकर विदा कर दिया। उस समय तो मैंने यह न समझा कि ईश्वर ने बचाया। मैं तो खिन्न होकर दबे पांव वहां से लौट आया। मैं शरमिन्दा हुआ। अपनी मूढ़ता पर मुझे दुःख भी बहुत हुआ। मुझे मालूम हुआ, मानो मुझमें राम नहीं है, पीछे मुझे मालूम हुआ कि मेरी मूर्खता ही मेरी ढाल थी। ईश्वर ने मुझे बेवकूफ बनाकर उबार लिया। नहीं तो मैं, जो बुरा काम करने के लिये गन्दे घर में घुसा, था, कैसे बच सकता था?

दूसरा अवसर इससे भी भयङ्कर था। यहाँ मेरी बुद्धि पहले की तरह निर्दोष न थी। मैं सावधान अधिक था। इस पर भी मेरी पूजनीया माताजी की दिलाई हुई प्रतिज्ञारूपी ढाल मेरे पास थी। विलायत की बात है। मैं जवान था। दो मित्र एक घर में रहते थे। थोड़े ही दिन के लिये वे एक गांव में गये। मकान मालिकिन आधी वेश्या थी। उसके साथ हम दोनों ताश खेलने लगे। उन दिनों मैं अवकाश मिलने पर ताश खेला करता था। विलायत में मां-बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते ही हैं। उस समय भी हमने रीति के अनुसार ताश खेलना स्वीकार कर लिया। मुझे तो पता भी न था कि मकान-मालिकिन अपना शरीर बेचकर अपनी जीविका चलाती है। ज्यों-ज्यों खेल जमने लगा त्यों-त्यों रंग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषयचेष्टा आरम्भ कर दी। मैं अपने मित्र को देख रहा था। वे मर्यादा छोड़ चुके थे। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा गया। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया। मैं अधीर होगया।

जिसकी राम रक्षा करता है उसे कौन गिरा सकता है? उस समय राम मेरे मुख में तो नहीं था, परन्तु वह मेरे हृदय का स्वामी जरूर था। मेरे मुख में तो विषयोत्तेजक भाषा थी। मेरे मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा। हम एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित थे। उन्हें ऐसे कठिन अवसरों की याद थी, जब कि मैं अपने इरादे से पवित्र रह सका था। मित्र ने देखा कि इस समय मेरी बुद्धि बिगड़ गई है। उन्होंने देखा कि यदि इस रंगत में रात अधिक जायगी तो मैं भी उनकी तरह पतित हुये बिना न रहूंगा।

विषयी मनुष्यों में भी अच्छे विचार होते हैं। इस बात का पता मुझे पहलेपहल इन्हीं मित्र के द्वारा लगा। मेरी हीन दशा देखकर वे दुःखी हुए। मैं उम्र में उनसे छोटा था। राम ने उनके द्वारा मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेम-बाण छोड़ते हुये कहा—"मौनिया! (यह मोहनदास का दुलार का नाम है। मेरे माता-पिता तथा हमारे परिवार के सबसे बड़े भाई मुझे इसी नाम से पुकारते थे। इस नाम के पुकारने वाले चौथे ये मित्र मेरे धर्म-भाई साबित हुए) मौनिया, होशियार रहना! मैं तो गिर चुका हूं, तुम जानते ही हो, पर तुम्हें न गिरने दूंगा। अपनी

हिन्दू धर्म में नारी का स्थान

(श्री० शचीन्द्रनाथ सान्याल)

शिवजी नारी की विच्छेद-भावना से विक्षिप्त होकर सती की देह को कन्धे पर लेकर भारतवर्ष के कोने-कोने में पागल की तरह विचरने लगे थे। ऐसी अवस्था में संसार के ध्वंस होने की सम्भावना से विचलित होकर विष्णु ने इसी सती-देह को शतधा विच्छिन्न करके दिशा-दिशा में फेंक दिया था। आज उसी त्याग-प्रेम के प्रतीक स्वरूप नारी के ही देहावशेष को लेकर हमारे तीर्थ-स्थान बने हैं। संसार के समस्त सनातन हिन्दू उन तीर्थ-स्थानों में नारी की ही पूजा करते हैं। नारी की मधुर स्मृति में संसार भर में एक ही ताजमहल बना है। परन्तु हिन्दुओं की मानस-सृष्टि में शत-शत ताजमहल भारत के कोने-कोने में शक्ति-पीठ के रूप में युग-युग से हिन्दू-जीवन को अनुप्राणित करते आते हैं। प्राण को छोड़कर देह में क्या रूप है? शिव-सती की अनुपम वार्त्ता को छोड़कर शक्ति-पीठों में कौन-सा प्राण है? ताजमहल को देखकर आंख मूंदकर नारी-स्मृति की महिमा का अनुभव करना पड़ता है। शक्ति-पीठों में आंख मूंद कर ताजमहलों को देखना पड़ता है। परन्तु हाय! मैं किसके साथ किसकी तुलना कर रहा हूं! ताजमहल क्या सती के आत्मोत्सर्ग की कहानी बताता है? शिव की उन्मादना का कोई आभास देता है? लक्षकोटि मनुष्यों की पूजा की वार्त्ता सुनाता है? शत सहस्र साधुओं की मार्मिक साधना का संकेत करता है? हाय नारी! तुम्हारी ही पूजा में सनातन पुरुष जीवन को सार्थक बनाते आये हैं और तुम उसी पुरुष को कोसा करती हो! पुरुष सरस्वती के रूप में नारी को ही तो पूजता है? लक्ष्मी के रूप में नारी की ही तो आराधना करता है? रण-चण्डी के रूप में नारी का ही तो आवाहन करता है?

हिन्दू, नारी को अर्द्धाङ्गिनी समझता है। हिन्दू की भावना में पुरुष नारी को ही पाकर पूर्णता को प्राप्त करता है। इसलिए हिन्दू-समाज व्यवस्था में विवाह मनुष्यों का एक अवश्य कर्त्तव्यकर्म है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए विवाह-पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ है। यह एक सामाजिक व्यवस्था है। व्यक्ति की स्वाभाविक कामनाओं और अधिकारों के साथ सामाजिक कल्याण-भावनाओं का समन्वय होने से ही सब प्रकार की सामाजिक व्यवस्था तथा विवाह-प्रथा का उद्भव हुआ है। आधुनिक पाश्चात्य-समाज में विवाह केवल वैयक्तिक व्यापार समझा जाता है, मानों केवल व्यक्ति की सुख-सुविधा के लिए ही विवाह की आयोजना है। परन्तु हिन्दू-समाज में विवाह एक संस्कार है, अपूर्णता में पूर्णता प्राप्त करने का साधन है, अव्यवस्था में व्यवस्था लाने का एक सामाजिक उपाय है। इसलिए भारतीय विवाह-पद्धति में केवल युवक-युवतियों के यौवन-सुलभ चपल आकर्षण से ही विवाह के प्रश्न की मीमांसा नहीं होती। विवाह को सार्थक बनाने में समाज का भी सुदृढ़ हाथ रहता है! विवाहबन्धन से सन्तानोत्पत्ति के कारण यह प्रथा केवल व्यक्तिगत दृष्टि से ही नहीं देखी जा सकती। इसलिए हिन्दू, समाज की कल्याणवेदी पर व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को न्योछावर करने को तैयार रहता है। इस दृष्टि से हिन्दू-आदर्श आधुनिक सुख-सर्वस्व पाश्चात्य वैवाहिक आदर्श से अधिक श्रेष्ठ है। पाश्चात्य-समाज में विवाह के बाद पुत्र, माता-पिता, भाई-बहनों से अलग होकर अपना स्वतन्त्र जीवन बिताने लगता है। विवाहित जीवन में किसी का नियन्त्रण नहीं रहता। किन्तु हिन्दू-परिवार में पुत्र विवाह के पश्चात् माता-पिता से अलग नहीं होता। हिन्दू-जीवन में पति को, विवाहित जीवन का रसास्वादन माता पिता भाई-भगिनी आदि की दृष्टि बचाते हुए धीरे धीरे क्षण क्षण में प्राप्त करना पड़ता है।

बाधा- विघ्नों के होते हुए भी उसके विवाहित जीवन का रसास्वादन मधुर होता है, जैसे दोनों तटों के बन्धन से नदी में प्रवाह का वेग उत्पन्न होता है। यदि दिशा-हीन होकर जलराशि चतुर्दिशा में विक्षिप्त होने लग जाय, तो नदी के स्रोत में प्रवाह बन्द हो जा सकता है। प्रथम यौवन में संयमहीन उपभोग से जीवनी-शक्ति का ह्रास हो जाता है, जीवन और जीवन-संगिनी से हम ऊबने लग जाते हैं, मधुमय जीवन में गरल का उदय होने लगता है।

नारी को जब हम अतीन्द्रिय जगत् का रूपक नहीं समझते, तब हम अनर्थ कर बैठते हैं। कुछ व्यक्ति तितलियों को पकड़-पकड़ के उनकी जीवनी-शक्ति का नाश करते हैं, और फिर आलपीन में बेधकर उन्हें चित्रपट के रूप में सजाते हैं। इसी प्रकार रस-लोलुप नर, नारी को अपने व्यसन की सामग्री बनाकर यथार्थ रसास्वादन से भी वंचित रहते हैं, और नारी की जीवनीशक्ति का भी नाश करते हैं। इस विनाशलीला के परिणाम में जिस विष का उद्गम होता है, उससे सामाजिक वातावरण भी विषैला बन जाता है। ऐसे विष से दग्ध समाज में हम नारी को ही अभिशाप देते हैं। परन्तु इस अभिशाप से नर का जीवन ही अभिशप्त होता है। इस अभिशाप के कारण नर नारायण नहीं बनता, यथार्थ मानव का उदय नहीं होता।

हिन्दू भावना स्त्री के रूप में केवल अर्धाङ्गिनी और सहधर्मिणी हो सकती है, और कुछ नहीं। हिन्दू की दृष्टि में नारी केवल साथिन के रूप में नहीं दिखाई देती। इस वैचित्र्यमय जगत् में नानात्व की अभिव्यञ्जना के साथ नारी को भी हम अनन्त शक्तिरूपिणी, अनन्त रूप से शक्ति-दायिनी, स्नेहमयी जननी, भगिनी, कन्या और सखी के रूप में अनन्तकाल से देखते चले आये हैं।

अपनी सामर्थ्य प्रकट करो

(श्री संत तुकडोजी महाराज)

जीवन का चाहे एक क्षण हो पर वह क्षण तेजस्वी होना चाहिये। गीदड़ बन कर सैंकड़ों वर्ष तक जिन्दा रहना किस काम का? मुर्दा भावनाओं से तुमने अपनी शक्ति को छिपा रक्खा है और क्षुद्र उपभोगों के पीछे गुलाम बनकर दौड़ने में ही तुम अपना कल्याण समझ रहे हो इस अमूल्य शरीर की कीमत तुमने पशु तुल्य बना रक्खी है। भोगपरायण जीवन तो कुत्ता भी जी सकता है। क्या धनवान् बनने से लोग तुम्हारा आदर करेंगे और तुम्हारा नाम अमर बना रहेगा? व्यसनी श्रीमान को लोग कुत्ते से भी बहतर समझते हैं और एक टूटा फूटा गरीब यदि गुणवान है तो वह उससे लाख दर्जे अच्छा है। अपने जीवन को पवित्र और ऊंचा बनाओ. इसी में तुम्हारी भलाई है। इसी मानव शरीर को पाकर अपनी करतूत से अनेक व्यक्ति महापुरुष, महात्मा और अवतार बन गये हैं और तुम यदि सावधान वृत्ति से कर्त्तव्य करोगे, तो तुम्हारे लिए भी वह विजय दिन दूर नहीं है।

तुम्हारा कर्त्तव्य है कि देश में आवश्यक संगठन का कार्य प्रारंभ करो, स्वयं मजबूत बनो, और दूसरों को भी उठाओ। जहां जहां जाओ अपने ही विचार के तेजस्वी नागरिकों का निर्माण करो। एक साधक यदि सौ सौ दो दो सौ अपने सामान वीर बना देगा, तो अल्पकाल में एक लाख सैनिक तैयार हो जायेंगे। यदि यही कार्य-क्रम चलता रहा तो थोड़े ही समय में सम्पूर्ण भारत में एक अनोखी रौनक पैदा कर देंगे, सारे समाज को दुरुस्त करके दिखायेंगे। ताकत तुम्हारे अन्दर छिपी हुई है, उसे प्रकट करना तुम्हारा काम है।

प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा

वर्तमान और प्राचीन शिक्षा प्रणालियों की कार्यविधि पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से यह सहज ही पता चल जाता है कि इन दोनों में कितना—जमीन आसमान जैसा अन्तर है।

आजकल केवल भौतिक जानकारियों की शिक्षा स्कूल कालिजों में दी जाती है। गणित भूगोल, इतिहास, भाषा, विज्ञान, रसायन, आदि विषय पढ़ाकर शिक्षक गण अपने कर्तव्य की इति समझ लेते हैं। परीक्षक लोग प्रश्न पत्रों द्वारा यह जांच लेते हैं कि छात्र ने इन विषयों को किस सीमा तक याद किया है। उत्तीर्ण छात्रों को बी० ए०—एम० ए० विशारद, आदि की उपाधि दे दी जाती है। यह उपाधि यह प्रकट करती है कि छात्र ने अमुक विषयों में, अमुक श्रेणी जैसी शिक्षा प्राप्त करली है।

अध्यापक लोग इस बात पर ध्यान देते हैं कि उनके छात्र अच्छे नम्बरों से पास होजांय, ताकि वे अच्छे अध्यापक गिने जावें और पुरुष्कार तथा वेतन वृद्धि के भागी हों। वे इस बात की आवश्यकता नहीं समझते कि छात्र के व्यक्तिगत गुण, कर्म, स्वभाव का निरीक्षण करें और उसे उचित दिशा में विकसित करने का प्रयत्न करें। छात्र चाहे जैसे दोषों, दुर्गुणों में फंसा रहे अध्यापक को उससे कोई सरोकार नहीं। पाठशाला छोड़ देने के बाद तो छात्र और अध्यापक के बीच कोई संबंध नहीं रह जाता। यहां तक कि एक दूसरे को पहचानने में भी कठिनाई होती है।

प्राचीन काल में इस प्रकार की भौतिक शिक्षा प्रणाली न थी। उस समय गुरु का कार्य शिष्य को भौतिक विषयों की शिक्षा देने के साथर उनको व्यक्तिगत जीवन का—गुण, कर्म और स्वभावों का समुचित विकास करना भी था। इसलिए गुरु का महत्व, माता और पिता के बराबर समझा जाता था। पहला जन्म माता पिता के रज वीर्य से होता था—दूसरा जन्म गुरुकुल में आचार्य द्वारा होता था। तब द्विज—द्विजन्मा बनते थे। गुरु 'शिक्षा' से अधिक 'विद्या' पढ़ाते थे। भौतिक बातों की अपेक्षा आत्मनिर्माण संबंधी ज्ञान देते थे।

आज कल परीक्षक सबको एक लाठी से हांकते हैं। सब धान बाईस पसेरी समझ कर सबकी एक सी परीक्षा लेते हैं और अमुक सीमा तक नम्बर प्राप्त कर लेने वाले को एक सी उपाधि दे देते हैं। प्राचीन काल में गुण कर्म स्वभाव और योग्यता के अनुकूल गुरुकुल में परीक्षा होती थी। उसी के आधार पर गुरु उपाधि देते थे। यह उपाधियां शिष्यों के गुणों और योग्यताओं की प्रतीक होती थीं।

आज कितने ही गोत्र जो बंश परम्परा से चल पड़े हैं। एक समय में गुरुकुल की उपाधियां थीं, जिन्हें गुरुलोग छात्र की योग्यता के अनुरूप प्रदान करते थे। जैसे—द्विवेदी (जिसने दो वेद पढ़े हों) त्रिवेदी (जिसने तीन वेद पढ़े हों) चतुर्वेदी (जो चारों वेदों का ज्ञाता हो) अग्निहोत्री (यज्ञ विद्या में प्रवीण) पंडित (सच्चरित्र-विचारवान) व्यास (वक्ता) महता (महत्व प्राप्त) उपाध्याय (अध्यापक) गोस्वामी (इन्द्रियों पर काबू रखने वाला) दीक्षित (सुसंस्कृत) शुक्ल (शुभ्र-पवित्र) मुनि (मनन करने वाला—विचारक) ऋषि (ऋतम्भरा बुद्धि वाला) पुरोहित (पुर का—नगर का—हितकरने वाला) इसी प्रकार अनेकों उपाधियां गुरुकुल से प्राप्त होती थी। छात्रको—ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण भी गुरुकुल से ही उसके गुण, कर्म स्वभाव के अनुसार घोषित होता था।

यह उपाधियां सामाजिक जीवन में प्रवेश पाने के लिए आवश्यक समझी जाती थीं। इनसे प्रकट होता था कि इस व्यक्ति ने गुरुकुल में प्रवेश किया है। गुरुकुल से रहित व्यक्ति को "निगुरा" जैसे तिरष्कार सूचक शब्दों से

संबोधित किया जाता था। जैसे वैध पिता का न होना आज एक बुरी बात समझी जाती है उसी प्रकार गुरु दीक्षा प्राप्त न होना भी एक लज्जा एवं कर्तव्य हीनता की बात समझी जाती थी। अपनी गुरु दीक्षा के प्रतीक-गुरुकुल की पदवियों को लोग सम्मान और आग्रह के साथ धारण करके, अपने को गौरवान्वित समझते थे। महाभारत में विश्वामित्र की कथा प्रसिद्ध है। इन्होंने राजर्षि की उपाधि से ऊंची उपाधि ब्रह्मर्षि प्राप्त करने के लिए घोर उग्र तप किये थे और इस मनोकामना की पूर्ति में बाधक वशिष्ठ से भयंकर संघर्ष किया था। और अन्त में अपना अभीष्ट पूरा करके छोड़ा था।

आज स्कूली भौतिक शिक्षा का बोल वाला है। बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियां पेटभर रोटी दिलाने में समर्थ न होने के कारण अपनी भौतिक महत्ता भी खोरही हैं। गुरुकुल प्रणाली का लोप हो चला है। इस दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति के कारण आज पदवियों की निरर्थकता दृष्टि गोचर होती है। पर वह समय दूर नहीं जब प्राचीन ऋषि प्रणाली का पुनः उदय होगा और भारतमाता की आर्य सन्तानें ऋषि पद्धति से जीवन को सच्चा जीवन बनाने वाली गुरुकुल की शिक्षा प्राप्त करेंगी। भगवान वह दिन शीघ्र लावें।

जो विपत्ति देता है, मङ्गल भी वही देता है। अतः उसके ऊपर अविश्वास न करके अवस्थानुसार जीवन व्यतीत करना ही प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

\+ + +

जो जानता है कि, भगवान् "सर्वतश्चक्षु" (सब ओर देखने वाले) हैं, वह कदापि पाप नहीं कर सकेगा।

\+ + +

चित्त की शुद्धि न होने तक भगवान की उपलब्धि नहीं हो सकती।

\+ + +

३६ से ६३ बन जाओ।

(परमहंस श्री स्वामी अभयानंदजी)

३६ की संख्या में तीन और छै के अंकों का मुह एक दूसरे से विपरीत है। दोनों एक दूसरे की ओर पीठ किये हुए हैं। इसी प्रकार अधिकांश मनुष्य ईश्वर से विमुख रहते हैं। ईश्वर विरोधी, ईश्वरीय नियमों से प्रतिकूल कार्य करते हैं। ऐसी दशा मैं उन्हें ईश्वर की विमुखता का अनुभव होता है। असत् मार्ग पर चलने वालों को समदर्शी परमात्मा अपने से रूठा हुआ क्रुद्ध दृष्टि गोचर होजाता है। यह ३६ की स्थित मनुष्य के लिए दुखदायी और दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति है।

कल्याण चाहने वालों को चाहिए कि अपने को ३६ की स्थिति से बचाकर ६३ की अवस्था मे ले जावें। ६३ की संख्या में छै और तीन दोनों अंकों का मुख आमने सामने है, अनुकूल दिशा में है। मनुष्य जब अपनी मनोदशा ईश्वर की ओर अभिमुख करता है तो उसके अन्दर दैवी विचार और कार्यों की वृद्धि होने लगती है। सन्मार्ग पर चलने से उसे अनुभव होता है कि परमात्मा उस पर प्रसन्न है, अनुकूल है। वह पथ प्रदर्शन करता है, सहायता करता है और अग्नि में तपा कर जन्म जन्मान्तरों के पापों के भोगों को थोड़े ही समय में पूरा करके सदा के लिए अनन्त आनंदमयी गोद में उठा लेता है।

३६ से ६३ बनने में एक साहस पूर्ण कदम उठाना पड़ता है। अपनी जीवन दिशा को एक दम एक ओर से बदल कर दूसरी ओर कर देना होता है। भौतिक भोग वादी दृष्टिकोण के स्थान पर आत्मिक-त्याग प्रधान दृष्टि बनानी पड़ती है। जैसे ३-६ के अंकों को थोड़ा लौट पलट करके ३६ से ६३ बना देना पर होजाता है। वैसा ही इससे हमारा वजन भी बढ़ जाता है। लोगो! कल्याण मार्ग पर चलो! ३६से ६३ बन जाओ।

खुदा की राह पर

(डा० हीरालाल जी गुप्त, बेगूसराय)

दुनियां में दो तरह के मनुष्य होते आये हैं। एक वे जो अपनी राह पर संसार में—चलते हैं और दूसरे वे जो प्रेम पथ के पथिक बन प्रभू की राह में चलते हैं। अपनी राह में चलने वाले ऐश व आराम तलब होते हैं और उनका ध्येय सांसारिक आराम की खोज ही में अपने अमूल्य जीवन को बिता देना है। पर जो खुदा की राह पर चलते हैं उन्हें पग पग पर विघ्नों का सामना करना पड़ता है। लोग इन्हें निखट्टू और अकर्मण्य कहा करते हैं पर उस पथिक को इन बातों को अनसुनी कर आगे बढ़ना पड़ता है। अगर वे लोगों की परवाह करने लगें वे न घर के रहें और न बाहर के।

हां तो खुदा की राह में चलने वाले प्रेम पथ के पथिक को धैर्य पूर्वक जो भी विपत्तियां सामने आवें उनको सहन करना पड़ेगा। अगर बीच में हिमालय भी आ पड़े तो उसको भी हंसते २ पार करना पड़ेगा। अगर रास्ते में सागर आ जाये तो दृढ़ता से उसे भी तैरना पड़ेगा। गरज कि उसे किसी हालत में पीछे पैर नहीं देना होगा। सम्भव है आगे बढ़ने का रास्ता दिखाई न दे पर इससे खौफ खाने की कोई बात नहीं। प्रेम के मार्ग में तो कांटे मिलते ही हैं। इश्क के रास्ते में तो रोड़े अटकाये जाते ही हैं पर प्रेमी इन अड़चनों से नहीं घबड़ाता। आशिक इन तकलीफों में विचलित नहीं होता। भला जिसने अपने सर को ऊखल के हवाले कर दिया है वह मूसल की चोट से कब तक डरता रहेगा।

खुदा की राह कठिन तो अवश्य है पर दुःसाध्य नहीं है। अगर दृढ़ संकल्प से इस रास्ते में कदम बढ़ाया जाये तो एक न एक दिन प्रीतम के दरबार में पहुंच ही जाता है। माशूक का दीदार हो ही जाता है। प्रीतम के प्रेम का पुजारी अपने प्रीतम से कब तक अलग रखा जा सकता है? भला अग्नि की गरमी को आग से कब तक अलग किया जा सकता है। चन्द्रमा से चांदनी की चोरी और सूर्य से धूप की चोरी के कितने दिन तक सम्भव है? जिसके हृदय में प्रीतम के मिलने की आग धधक रही है और उससे मिलने के लिये उसकी राह में चल पड़ा है उसको दुनियां की कोई ताकत नहीं रोक सकती। कोई भी शक्ति उसको उस पथ से गुमराह नहीं कर सकती। वह अपने ध्येय का पक्का है, वह अपने विचार में अटल है। संकल्प कच्चा धागा नहीं। वह इस बात को जानता है—खूब जानता है—कि अगर वह एक डग आगे बढ़ेगा तो परमात्मा दो डग उसकी ओर बढ़ेंगे। वह जानता है कि यही मार्ग उसको अपने प्रभू के महल तक पहुंचा देगा। उसे मालूम है कि इसी रास्ते से बड़े लोग गये हैं और उसे भी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

ऐसे व्यक्तियों के लिये समुद्र गो-खुर के समान हो जाता है, अग्नि अपनी दाहक शक्ति छोड़ देती है, हिमालय राह दे देता है और शत्रु भी मित्र सा वर्ताव करने लगता है। उसके लिये सारा संसार ही कुटुम्ब हो जाता है। वह जहां पहुंचता है लोग चारों ओर से उसे घेर लेते हैं। वह जहां निकल जाता है वहां शीतल, मन्द सुगन्ध हवा चलने लगती है। उसकी जहां २ पदधूलि पहुंचती है वह स्थान तीर्थ बन जाता है। पशु पक्षी भय त्याग उसके इर्द गिर्द चक्कर काटने लगते हैं और उसके बदन से अपनी खुजलाहट मिटाते हैं

कोई विरला ही माई का लाल इस रास्ते में चलता है और चल कर भी वापस नहीं लौटता। होता तो यह है कि कुछ अभागे इस रास्ते चलने को राजी भी होते हैं तो जहां दिक्कतों को सामना करना पड़ा बस फौरन वापस चले आते हैं। थोड़ी दूर जरूर तरह २ के विघ्न बाधायें हैं पर आगे चलकर तो रास्ता बिलकुल सहल और राजकीय पथ के समान है भला कहीं खुदा की राह में भी दुःख हो सकता है।

चोटी क्यों रखावें ?

(१) मस्तिष्क व हृदय की सुरक्षा—

मस्तक विद्या में आचार्यों का कथन है कि शिखा स्थान मस्तिष्क की नाभि है। दूसरे शब्दों में इसे मस्तिष्क का हृदय भी कह सकते हैं। इस केन्द्र से उन सूक्ष्म तन्तुओं का संचालन होता है जिनका प्रसार समस्त मस्तिष्क में हो रहा है और जिनके बल पर अनेकों मानसिक शक्तियों का पोषण तथा विकाश होता है।

इस केन्द्र स्थान से सम्बन्धित चार दिशाओं में पाँच शक्तियां रहती हैं (१) विवेक शक्ति (२) दृढ़ता शक्ति (३) दूर दर्शिता शक्ति (४) प्रेमशक्ति (५) संयम शक्ति। इन पांचों की जड़ शिखा मूल में है। मस्तिष्क का हृदय होने तथा पांच महत्व पूर्ण शक्तियों का केन्द्र होने के कारण इस स्थान का महत्व शरीर के सब स्थानों से अधिक है।

ऐसे मर्म स्थान की सब प्रकार रक्षा की जानी चाहिए। इस स्थान को स्वस्थ एवं सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम तरीका 'केशाच्छादित' रखना है। उस जगह पर बड़े बड़े बाल रहने से उसी प्रकार सुरक्षा हो जाती है जैसे छप्पर या वृक्ष की छाया के नीचे हम सर्दी गर्मी आदि से अपनी रक्षा कर लेते हैं। बालों में बाहरी प्रभाव को रोकने की शक्ति है। ऊनी कम्बल में लपेट देने पर बर्फ बहुत कम गलती है, बाहर की गर्मी को बर्फ तक जाने से रोकती है। इसी प्रकार कम्बल बाहर की सर्दी को रोक कर जाड़े के दिनों में हमारे शरीर को गरम रखता है। इसी प्रकार शिखा स्थान पर बाल रहने से बाहरी अनावश्यक सर्दी गर्मी, का प्रभाव नहीं होता। और उसकी सुरक्षा सदा बनी रहती है जिससे उस मर्म स्थान में कोई विकार उत्पन्न नहीं हो पाता।

(२) मानसिक शक्तियों का पोषण—

बाल एक नियत मर्यादा तक बढ़ते हैं, इसके बाद उनका बढ़ना बन्द हो जाता है। बाल कटने पर केशों की जड़ें अपने निकट वर्ती स्थान से रक्त लेकर उसके द्वारा बाल बढ़ाती हैं। इस दृष्टि से बाल काटने का अर्थ हुआ उस स्थान के रक्त का खर्च। यह सर्व विदित बात है कि जब एक वस्तु को दो भागों में बांटा जायगा तो प्रत्येक भाग कम होजायगा। किंतु जब बाल काटे नहीं जाते तो एक नियत सीमा पर पहुंच कर उनका बढ़ना बन्द हो जाता है। जब बढ़ना बन्द हो गया तो केशों की जड़ों को बाल बढ़ाने के लिए रक्त लेकर खर्च करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फलस्वरूप वह बचा हुआ रक्त उन पांचों शक्तियों का पोषण करने में खर्च होता है। जिससे उनका पोषण और विकाश भली प्रकार होता है। इससे मनुष्य विवेक शील दृढ़ स्वभाव, दूरदर्शी, प्रेमी एवं संयमी बनता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो यह लाभ अत्यन्त ही महत्व पूर्ण है।

(३) वासना की कमी—

शिखा स्थान के बाल कटवाने से मस्तिष्क की जड़ों में एक प्रकार की हलचल मचती है, यह एक प्रकार सूक्ष्म खुजली होती है, यह खुजली मस्तिष्क से सम्बद्ध वासना तन्तुओं में उतर जाती है फल स्वरूप काम वासना भड़क उठती है। इस अनिष्ट से परिचित होने के कारण ऋषि, मुनि पंच केश रखते थे। शिर पर जटा, दाढ़ी मूंछ, बगल तथा गुप्त स्थानों के बाल वे लोग रखाते थे। जिससे इन्द्रियों पर काबू पाने में बड़ी सहायता मिलती है। ब्रह्मचारी भी इसी उपाय का अवलम्बन करते हैं। आजकल दाढ़ी मूंछ मुड़ाने तथा जल्दी २ बाल कटाने का फैशन चल पड़ा है इससे इन्द्रिय विकार भड़कते हैं और लोग भोग विलास के मार्ग में अवाच्छनीय उत्तेजना के साथ प्रवृत्त होते हैं।

आयुर्वेद के ज्ञाता जानते हैं कि नपुंसकों की

चिकित्सा में गुप्त स्थान के बालों को जल्दी २ बनाते रहने का विधान है जिससे उत्तेजना की वृद्धि हो। मस्तिष्क में भी बाल काटने से ऐसी ही उत्तेजना होती है। इसलिये अच्छा तो यह है कि शिर के सभी बाल रखाये जावें पर शिखा स्थान के बाल तो विशेष रूप से रखणीय हैं क्योंकि वह मस्तिष्क का हृदय होने से वासना का केन्द्र भी है। शिखा रखाने से काम वासना संयम में रहती है।

(४) तेज की वृद्धि—

स्त्रियां लम्बे बाल रखाती हैं उनके चहरे पर एक लावण्य एवं चमक दृष्टि गोचर होता है। पूर्वकाल में महापुरुषों एवं देवताओं के चित्र देखने से पता चलता है उस समय में पुरुष बाल रखाया करते थे और वे तेजस्वी होते थे। अब भी दाढ़ी मूंछ वाले मनुष्यों के चहरे पर अपेक्षाकृत अधिक तेज दिखाई पड़ता है। यों तो सभी स्थानों के बालों का इस तेज वृद्धि से संबंध है पर शिखा स्थान के बालों का संबंध तो विशेष रूप से है। इस लिए तेजस्विता एवं सौन्दर्य को स्थिर रखने के इच्छुकों को शिखा तो अवश्य ही रखानी चाहिये।

(५) शक्ति का प्रतिनिधित्व—

शक्ति मार्गी साधकों ने अपने अध्यात्मिक अनुभवों से बताया है कि ब्रह्मरन्ध्र के, शिव हृदय के,ऊपर अवस्थित शिखा कृष्णवर्णा भगवती कालिका की प्रति निधि है। चाणक्य ने शिखा को हाथ में लेकर अर्थात् दुर्गा को साक्षी बनाकर नन्द वंश के नाश की प्रतिज्ञा की थी और वह पूरी हुई। शिखा स्पर्श से शक्ति का संचार होता है। ओझा लोग भूत प्रेत भगाने में शिखा-शिवा-की सहायता प्राप्त करते हैं। शाक्त ग्रन्थों में ऐसे अभिवचन भी प्राप्त होते हैं। जैसे—

(१) चिद्र पिणी महामाये, दिव्य तेजः समन्विते।
तिष्ठ देवि शिखा मध्ये तेजो वृद्धि कुरुष्व मे॥

(१) दीर्घायुष्त्वाय बलात बच से
शक्ते शिखायै वषट्॥

इन वचनों में शिखा को शक्ति रूपिणी बताया है। ज्वालामुखी पर्वत के सबसे ऊंचे शिखिर पर जैसे भगवती ज्वालाजी की अग्नि शिखा के दर्शन होते हैं उसे ही शरीर पर्वत के सर्वोच्च स्थान पर शिखा ऊपर की ओर उठ रही है। शक्ति रूपी शिखा को श्रद्धा पूर्वक धारण करने से मनुष्य शक्ति संपन्न बनता है।

(६) धर्म की ध्वजा—

जैसे राष्ट्र का एक ध्वज-झंडा होता है वैसा ही शरीर राष्ट्र का भी एक ध्वज है जिसे शिखा कहते हैं। यह शिखा किले के सबसे ऊपरी भाग पर सदैव फहराती रहती है। हर किले पर झंडा उड़ता है जीवात्मा के सुदृढ़ किले ब्रह्मरंध्र के ऊपर भी शिखा ध्वज फहराती रहनी चाहिए। हिन्दू धर्म की, हिन्दू राष्ट्र की, हिन्दू संस्कृति की ध्वजा मस्तक पर स्थायी रूप से धारण करना हिन्दुत्व का गौरव है। उस गौरव को रक्षा करना हर हिन्दू का धर्म कर्तव्य है। हम सबको शिखा रखानी चाहिए और उसकी सांस्कृतिक महानता में श्रद्धा करनी चाहिए।

[७] केन्द्रीय सत्ता की रक्षा—

हर चीज का एक केन्द्र होता है। यह उसका मर्मस्थान कहलाता है। इस केन्द्र की बनावट चक्करदार होती है। पृथ्वी का केन्द्र उत्तरीध्रुव है, फल जिस स्थान पर डंठलसे जुड़ा होता है वह उसका केन्द्र है, बालक और माता के शरीर को जोड़ने वाला नाल मूल नाभि केन्द्र है। जड़ और चैतन्य सभी का एक केन्द्र होता है और उसी के ऊपर उसकी सत्ता निर्भर रहती है। मस्तिष्क का केन्द्र शिखास्थल है इस पर चक्कर जैसी आकृति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यह केन्द्र अदृश्य सत्ताओं के साथ व्यक्ति की चेतना को उसी प्रकार संबंधित करता है जैसे फल और डंठल का संबंध रहता है। इस केन्द्रीय

सत्ता को किसी प्रकार चोट, सर्दी, गर्मी आदि के कारण हानि न पहुंचे इसलिए शिखा रखाना आवश्यक है।

(८) आत्मा का निवास स्थान--

योगी लोग बताते हैं कि आत्मा की अखंड ज्योति का प्रधान स्थान मस्तिष्क केन्द्र में है। स्थान को सहस्र दल कमल एवं ब्रह्मरंध्र कहते हैं। अनाहत ध्वनि इसी स्थान से उत्पन्न होती है। इस्लाम धर्म की पुस्तकों में खुदा का निवास सातवें आसमान पर बताया है। शरीर में सबसे ऊपर सातवां स्थान यह शिखा केन्द्र ही है। सर्वव्यापी परमात्मा का मनुष्य शरीर में जो प्रधान स्थान है वह शिखामूल ही है। इस स्थान पर शिखा रूपी मंदिर बनाना ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है।

(९) आकाश से जीवन ग्रहण करना—

पेड़ में लगी हुई पत्तियां हवा में से प्राण वायु खींचती हैं। बरगद की जटाएं उसे दिन दिन परिपुष्ट बनाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य शरीर पर जो बाल हैं वे छिद्र युक्त हैं और आकाश में से प्राण वायु खींचते हैं जिसमें मस्तिष्क चैतन्य, पुष्ट और निरोग रहता है। पशु पक्षी अपने शरीर के बालों को खुले और सुरक्षित रखते हैं फल स्वरूप वे बीमार नहीं पड़ते। मनुष्य अधिक कपड़े लाद कर बालों को शुद्ध वायु खींचने से रोकता है फलस्वरूप बीमार पड़ता है। शरीर में अन्य स्थानों की अपेक्षा शिर के बालों का महत्व अधिक है क्योंकि वे मस्तिष्क का पोषण अधिक आवश्यक है। उचित तो यही है कि सारे शिर के बालों को रखाया जाय पर यदि यह न होसके तो उस केन्द्र स्थान पर जो अत्यन्त ही महत्व पूर्ण है। शिखा अवश्य रखनी चाहिये।

(१०) मनोबल की वृद्धि—

अनुष्ठान काल में क्षौर कर्म वर्जित है। किसी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये बाल रखाने की प्रथा है। इसके सूक्ष्म कारणों पर विचार करने से विदित होता है कि बाल रखाने से मनोबल की वृद्धि होती है और दृढ़ता आती है। उस दृढ़ता के कारण अनुष्ठान करने वाले साधक अपने कार्यक्रम पर दृढ़ रहते हैं और उसे निर्विघ्न पूरा कर लेते हैं। प्रतिज्ञा पालन या किसी को पूरा करने के संकल्प स्वरूप जब बाल रखाये जाते हैं तो मनोबल सतेज रहता है जिसके कारण संकल्प पूरा होने का मार्ग सुगम हो जाता है। श्राद्धपक्ष में धार्मिक वृत्तियां विशेष रूप से दृढ़ रहें इसलिए उन दिनों क्षौर नहीं बनाया जाता। शिखा केशों का केन्द्र बिन्दु है। मनोबल की निरन्तर वृद्धि के लिए कम से कम शिखा स्थान के बाल तो रखाने चाहिये।

[११] अवसाद से बचाव—

प्राचीन समय में जिसे तिरष्कृत लज्जित, अपमानित करना होता था, उस अपराधी का शिर मुड़ा कर घुमाया जाता था। शिर मुड़ा देने से अध्यात्म शास्त्र के अनुसार मन गिर जाता है, जोश ठंडा हो जाता है, नाड़ी तन्तु शिथिल हो जाते हैं। ऐसा होने से अपराधी का उत्साह ठंडा होकर मन गिर जाता है जिससे भविष्य में वैसा करने को उसका जी नहीं करता। प्रायश्चित्य में शिर मुड़ाने का विधान है। किसी स्वजन की मृत्यु हो जाने पर मुंडन कराया जाता है। इसका अर्थ मन को शिथिल करके, पाप, अपराध, शोक आदि की भावनाओं को ढीला करना है। यदि अकरण मुंडन कराया जाय तो उत्साह स्फूर्ति काम में रुचि, आदि की कमी हो जाती है और आलस्य आ घेरता है। केशों के केन्द्र शिखा को मुड़ाने से तो यह दोष विशेष रूप से पैदा होते हैं इसलिये अवसाद से बचने के लिये हमें शिखा रखानी चाहिए।

[१२] शिखा प्रधान सिख धर्म—

सिख लोग स्वभावतः वीर होते हैं, उनका स्वास्थ्य और शौर्य प्रसिद्ध हैं। सिखों के धर्म में पंच शिखाएं रखाना कर्तव्य है। कुछ लोग कहते

है शिष्य का अपभ्रंश सिख है । पर कुछ लोगों का कथन है कि उनके धर्म में शिखा का महत्व बहुत अधिक है इसलिए 'सिख' नाम रखा गया है । जो भी हो, गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं ने अपने आध्यात्म बल से शिखा के असाधारण लाभों को समझ कर अपने सम्प्रदायवालों को पंच शिखायें—पांचों स्थान के बाल रखाने का आदेश दिया है ।

[१३] ब्रह्मरन्ध्र की रक्षा—

योगशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बीच शिर में ब्रह्मरन्ध्र है और ब्रह्मरन्ध्र के बराबर सहस्रदल कमल में आत्मा का केन्द्र स्थान है । यहां उच्च सात्विक आध्यात्मिक शक्तियाँ निवास करती हैं । उनकी रक्षा करने के लिये गौ खुर की बराबर बाल (शिखा) रखना योगशास्त्र की दृष्टि से आवश्यक है । इससे आत्मिक उन्नति तथा परमात्मा की प्राप्ति में सहायता मिलती है ।

[१४] धार्मिकता एवं आस्तिकता

शिखा को शिर पर स्थान देने का अर्थ धार्मिकता को स्वीकार करना है । आस्तिकता का धर्म भावना से प्रधान संबंध है । जब कि मनुष्य धर्म या आस्तिकता को स्वीकार नहीं करता तब तक उसे शिखा पर श्रद्धा नहीं होती, किन्हीं विश्वासों और भावनाओं को स्वीकार कर लेने से लोग उसी समूह में प्रवृष्ट होते हैं । हिंदू संस्कृति हिंदू धर्म और हिन्दू आस्तिकता को स्वीकार करके उसकी दीक्षा एवं स्वीकृति स्वरूप शिखा को धारण किया जाता है । एक विश्वास कायम कर लेने पर ही उस मार्ग पर श्रद्धा बढ़ती है । श्रद्धा की वृद्धि से ही मनुष्य सच्चा धार्मिक और आस्तिक बनता है । इस प्रकार शिखा हमें धार्मिक एवं आस्तिक बनने में सहायता करती है ।

[१५] अनिष्ट कर प्रभावों से रक्षा—

बड़ी इमारतों के ऊपरी भाग पर एक लोहे की छड़ खड़ी की जाती है, ताकि आकाश की बिजली गिर कर मकान को हानि न पहुंचावे, वरन् उस छड़ में होकर नीचे जमीन में चली जावे । शिखा भी उसी प्रकार की एक आध्यात्मिक छड़ है, जिसके द्वारा ग्रह नक्षत्रों के तथा अन्य अदृश्य शक्तियों के अनिष्ट कर प्रभाव नीचे उतर जाते हैं और शरीर तथा मन को नुकसान नहीं पहुंचाते ।

[१६] दैवी संदेशों की प्राप्ति—

जहां रेडियो यंत्र लगाया जाता है उस घर के ऊपर एक खम्भा खड़ा करते हैं । यह खम्भा आकाश में प्रवाहित होने वाली रेडियो तरङ्गों को पकड़ कर रेडियो यन्त्र में पहुंचाता है वहां सब बातें सुनाई पड़ती हैं । ईश्वरीय संदेश दैवी प्रेरणायें अदृश्य संकेत शिखा के स्तम्भ द्वारा आते हैं और मस्तिष्क रूपी ब्रह्मरंध्र में पहुंचाये जाते हैं । इस प्रकार शिखाधारी मनुष्य दैवी शुभ संदेशों को प्राप्त करता है और धार्मिक मार्ग पर अग्रसर होता जाता है । एवं ईश्वरीय सन्निकटता सुगमता पूर्वक प्राप्त कर लेता है ।

[१७] सद्गति—

ईश्वर न करे किसी को कहीं अपरिचित स्थान में दुर्घटना में या किसी अन्य कारण से से शरीर त्याग का अवसर आजाय तो शिखा देख कर उसे हिंदू पहचान लिया जायगा और या तो उदार हिंदू समाज की ओर से उसकी अन्त्येष्टि कर दी जायगी अथवा सरकारी कानून के अनुसार पुलिस भी उस लावारिस लाश का हिन्दू पद्धति से दाह संस्कार करावेगी । इस प्रकार शिखा रखाने का एक लाभ यह भी है कि जीवन भर जिन सिद्धान्तों पर विश्वास किया है उन्हीं के अनुसार अन्त समय में उसकी अन्त्येष्टि भी हो सकती है ।

इन सब बातों पर विचार करते हुए हर एक विवेकशील व्यक्तिको शिरपर शिखा अवश्य रखानी चाहिये ।

———

भूखे रह कर बीमारी को मारो

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर चार्ल्स सी हस्केल अपने रोगियों को दवादारू के झमेले में न फंसा कर उन्हें लम्बे उपवास कराते हैं। उनकी उपवास पद्धति से कठिन रोग अच्छे होजाते हैं। इस प्रकार अच्छे हुए रोगियों में से कुछ के पत्रों का अंश नीचे उधृत किया जाता है। जिससे पाठक उपवास का महत्व समझ सकें और "भूखे रहकर बीमारी को मार डालने" के महान सत्य से परिचित होजावें।

मि० हेनरी रीटर पत्र—

"यहां जलोदर, गठिया, सिरदर्द, पेट और अँतड़ियों के दर्द, दम और कमजोरी के बीस रोग ४५-४२-१८ और इनसे भी कम दिनों का उपवास करने से अच्छे हो गये हैं।"

मि० लियोनार्ड थूसका पत्र—

"मेरे जलोदर और दमा के रोग पचास दिन तक उपवास करने से बिलकुल अच्छे हो गये हैं। मुझे किसी प्रकार की औषधि नहीं खाना पड़ी। पहले औषधियों से मुझे कुछ लाभ न हुआ था।"

मि० ए. स्टेला एफ. कुनभेले का पत्र—

"मेरे दाहिने अंग को लकवा मार गया था। वह औषधोपचार से अच्छा न हुआ, तथा मेरा स्वास्थ्य बिगड़ा गया। परन्तु डा० ड्यूईके प्राकृतिक और सत्य नियम स्वीकार करने से, और पैंतालीस दिनों तक उपवास करने से, बिना किसी औषधि के मेरा असाध्य रोग अच्छा हो गया।"

मि० एस. टी. पोर्टर का पत्र—

"मुझे पच्चीस वर्ष की उमर में, दमका रोग शुरू हुआ था। मैंने भूखे रहकर चालीस दिन तक उपवास किया और मेरा रोग अच्छा हो गया। मैं बहुत खानेवाला था, परन्तु जब से मैंने प्रातःकाल का भोजन (ब्रेकफास्ट) बन्द कर दिया और स्वाभाविक भूख लगने का प्राकृतिक नियम स्वीकार किया, तब से मेरा स्वास्थ्य बहुत सुधर गया है और दमा बिलकुल हट गया है।"

मि० आलीवर एन. एण्डर्सन का पत्र—

"मुझे गले, फेफड़े और छाती तथा मूत्रपिंड के रोग सब एक ही साथ थे। जीवन की आशा नहीं थी। बहुत दिनों तक औषधोपचार करने पर डाक्टरों ने मेरी आशा छोड़ दी थी। परन्तु डा० ड्यूईके सत्य और प्राकृतिक नियमों का पालन करने से, मुझे आराम हो गया।"

मिसेज मेडील्टा एल० एम्ब्रीका पत्र—

"मेरी पांच वर्ष की पुत्री बहुत ही चिड़चिड़े स्वभावकी थी। डा० ड्यूईके प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करने से वह अच्छी हो गई है और हम छह मनुष्यों का स्वास्थ्य भी उन्हीं नियमों का पालन करने से अच्छा हो गया है।"

मिसेज एस० आर० हार्मन का पत्र—

"मेरे जिगर, गुरदे और आमाशय में रोग था। मैंने प्राकृतिक नियम स्वीकार किये। मैंने प्रातःकाल का भोजन 'ब्रेक-फास्ट' छोड़ दिया तथा केवल दो पहर को स्वाभाविक भूख लगने पर, भोजन की आदत डाली। उससे मैं बिना औषधि के अच्छा हो गया हूं। मेरी उमर लगभग सड़सठ वर्ष की है, परन्तु अब मैं दस वर्ष पहले से अधिक स्वस्थ हूं।"

मिसेज आईडा जे० काल्कीन्सका पत्र—

"मि० काल्कीन्स बदहजमी और जिगर तथा गुरदे के रोगों से बहुत कष्ट पाते थे, तथा डाक्टरों की औषधियों का सेवन करते थे। वे स्वास्थ्य के सत्य नियमों के अनुसार चलने से अच्छे हो गये। मुझे भी बीस वर्ष का पुराना कब्ज रोग था वह अच्छा हो गया है।"

मि० सी० सी० शोल्टर का पत्र—

"मेरा शरीर बहुत भद्दा था। मेरा वजन तीन मन चौबीस पौण्ड था परन्तु जब से मैंने स्वास्थ्य के नये और सत्य नियम पाले, तब से दो वर्षों में मेरा वजन एक मन उतर गया है,

और पहले की अपेक्षा मेरी तबीयत अब बहुत अच्छी रहती है।"

रेवरेन्ड सी० बी० बोमली का पत्र—

"जब से मैंने प्रकृति के सत्य नियमों का अनुकरण किया है, तब से मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। मिसेज ब्रोमली को दारुण सिर दर्द रहता था। वह भी अच्छा हो गया है और उनका स्वास्थ्य अब ठीक है तथा वे घर का कामकाज आसानी से करती हैं।"

मि० पबेल ईस्टनका पत्र—

"मुझे एक वर्ष से भी अधिक समय से चक्कर आते थे और मुझे मूत्रपिंडका रोग हुआ था। मैं इतना बेज़ार हो गया था कि मुझे मृत्यु अधिक पसन्द थी। परन्तु स्वास्थ्य के नये और सत्य नियम स्वीकार करने से मुझमें बहुत अन्तर हो गया है और मुझे विशेष लाभ हुआ है।"

रेवरेन्ड मि० डब्ल्यू० ई० रेम्बोका पत्र—

"हिन्दुस्थान के मध्यप्रान्त का मैं पादरी था। उस समय १८६६ ईस्वीके जुलाई मास में, मुझे 'टाईफाईड बुखार' (मोतीझरा) का कठिन रोग हुआ था। मैंने सब मिलाकर सात डाक्टरों का इलाज किया, परन्तु उससे मुझे कुछ लाभ न हुआ और मैं प्रतिदिन दुर्बल ही होता गया। ईश्वर की कृपा से मेरा ध्यान डा० ज्यूईके स्वास्थ्य प्राप्त करने के प्राकृतिक नियमों पर गया और उनके अनुसार चलने से मेरा रोग दबा, और मैं अच्छा होने लगा। यह देख मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। दो माह में मेरे शरीर में तीस पाउण्ड वजन बढ़ गया।"

———

मनोविनोद के लिये, हंसी हंसी में भी काम, क्रोध, झूठ आदि का आश्रय नहीं लेना चाहिये, कारण दो एक दिन वह कौतुकरूप में रहकर फिर अभ्यास में पड़ जायगा—उसका संस्कार जम जायगा।

+　　+　　+

गौ माता के प्राण बचाओ !

(श्री खुशहालचन्द्रजी 'आनन्द')

———

आज से लगभग ८ सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष में निस्सन्देह दूध की नदियां बहती थी। मनुष्यों से अधिक गाएं थीं। न इतने रोग थे, न इतनी अकाल मृत्यु। परन्तु दुर्दिन जो आये तो गौ वध होने लगा और गौ तथा अन्य पशुओं का इतना ह्रास हुआ कि आज न शुद्ध दूध मिलता है न शुद्ध घी। वेद भगवान ने गौ पालन का बड़ा महत्व बतलाया है। वेद में जितनी भी बातें लिखी हैं वह मनुष्य मात्र ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हैं, क्यों कि आदि सृष्टि में सब के हित के लिए परमात्मा ने सूर्य की भाँति वेद का ज्ञान भी दिया।

वेद का आदेश है—

'धेनुरनडवान वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु।' अथर्व १२-३-४९।

दुधार गाय, हल खींचने वाले बैल, और इन्हीं के कारण आते हुए नाना प्रकार के अन्न, रस मनुष्यों को अकाल मृत्यु से बचाते हैं।

'पयसा शुक्रममृतं जनित्रं।' यजु० १९-२४।

दूध से अमृत, वीर्य बनता है जो अकाल मृत्यु से छुड़ा कर सन्तानोत्पत्ति का हेतु है।

इम ँ सहस्र ँ शत धारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्यमध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः। यजु० १३-४९।

मनुष्यादि सब प्राणियों के लिए इस असंख्य सुखों का साधन असंख्य दूध की धाराओं के निमित्त अनेक प्रकार से पालन के योग्य बैल और घी से भरपूर कर देने वाली न मारने योग्य गौ को मत मारो।

यूयं गावोमेद यथा कृशं चिदश्रीरंचित्कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वोवय उच्यते सभासु॥

ऋ० मण्डल ६ स० २८ मं० ६।

गाय का दूध कृष (कमजोर) जनों को मोटा कर देता है और शोभारहित, कान्तहीन दुबले पतले को सुन्दर मुख वाला रूपवान बना देता है। गौओ ! तुम घर को सुखयुक्त बनाती हो, तुम्हारे बल और गुणों के गीत सभास्थलों में गाए जाते हैं।

वेद के इस आदेश को संसार ने भुला दिया और इस से भी बढ़कर खेद यह है कि भारत ने तथ्य से सर्वथा मुख मोड़ लिया । आज से ८० वर्ष पूर्व जब महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने देश की अवस्था को देखा तो उन्होंने जहां सुधार तथा उद्धार के दूसरे उत्तम कार्य किए, वहां गौरक्षा को अत्यन्त आवश्यक समझ कर "गोकृष्यादिरक्षिणी सभा" बनाई और 'गोकरुणानिधिः' पुस्तक लिख कर गौ की महिमा का बखान किया । महारानी विक्टोरिया के पास गौ रक्षा के लिए मैमोरेण्डम भिजवाने की योजना की । जो भी गवर्नर अथवा फौजी अफसर स्वामी जी से मिला उसी को गौ वध बन्द करने के लिए कहा। उन्होंने 'गोकरुणानिधि' में लिखा कि "गौ आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है।"

एक गाय ही कितना उपकार करती है इसका हिसाब स्वयं स्वामी जी ने लिखा है, गो करुणानिधि के आरंभ ही में स्वामी जी लिखते हैं :—

"जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कुछ भी शंका नहीं, इस हिसाब से एक मास में ८ऽ सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है तो दोनों का मध्य भाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ (निन्नानवे) मन होता है इतने दूध को औटा कर प्रतिसेर में छटांक चांवल और डेढ़ छटांक चीनी डालकर खीर बना खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिए दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खा गया और कोई न्यून, इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नवसौ अस्सी मनुष्य एक बार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ बार ब्याती है इसका मध्यभाग तेरह बार आया तो २५७४० पच्चीस हजार सात सौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूध मात्र से एक बार तृप्त हो सकते हैं। इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुए इन में से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूध मात्र से उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २०० दो सौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है इस प्रकार तीन जोड़ी ६०० छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं और उनके कार्य का मध्यभाग आठ वर्ष है इस हिसाब से ४८०० चार हजार आठ सौ मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की (४८००) इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २५६००० दो लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक बार भोजन होता है दूध और अन्न को मिला कर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० चार लाख दश हजार चार सौ चालीस मनुष्यों का पालन एक बार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी पर पीढ़ियों का हिसाब लगा कर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो सकते हैं। देखो तुच्छ लाभ के लिए लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?"

और फिर मार्मिक शब्दों में अपील करते हुए

यह आदेश किया कि "सुनो बन्धुवर्गो ! तुम्हारा तन, मन, धन गाय की रक्षा रूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है?" शोक यही है कि ऋषि के आदेश पर बहुत कम ध्यान दिया और उसका परिणाम यह है कि अब नाना प्रकार के दुःखों की दलदल में हम फंस चुके हैं, हमारा देश रोगों का घर बन गया है। रोगों से बचाने और स्वस्थ बनाये रखने की शक्ति जितनी गाय के दूध में है, इतनी और किसी वस्तु में नहीं।

धन्वन्तरि के मत से गोदुग्ध—

"पथ्यं रसायनं बल्यं हृद्यं मेध्यंगवांश्यः।"

महात्मा गांधी ने भी इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर ध्यान दिया है। उन्होंने लिखा है—

"जब तक गौवध होता है तब तक मुझे ऐसा लगता है कि मेरा अपना वध हो रहा है। गाय को छुड़ाने के मेरे प्रयत्न हमेशा जारी ही हैं ! मेरे सारे प्रयत्न गौवध रोकने के लिये ही हैं। गाय को बचाने की खातिर जो अपने प्राण देने को तैयार नहीं वह हिन्दू नहीं। मेरी गहरी से गहरी दो कामनायें हैं—एक अस्पृश्यता निवारण और दूसरी गौ सेवा। इन कामों में जब सफलता मिलेगी,तभी स्वराज्य होगा। इन दोनोंकी सिद्धि में ही मुझे मोक्ष दिखाई देता है।" परन्तु इस समय तक गौ रक्षा के सारे प्रयत्न निष्फल गए हैं। धनी लोग बड़े २ कारखाने जारी करके करोड़ों रुपये कमाते हैं। व्यापारी अपने व्यापार में मस्त हैं। सरकार देश के पशु धन से कितनी उदासीन है यह बात एक इसी सत्य से प्रकट हो जाती है कि सरकारी खाल रिपोर्ट १९४२ में लिखा है कि नसल सुधार तथा पशुओं की भलाई के कामों पर भारत सरकार प्रति पशु पर केवल दो पैसे खर्च करती है, जब कि अमरीका आदि देशों में प्रति पशु एक रुपया खर्च किया जाता है। यही कारण है कि भारत देश में न केवल गऊओं की संख्या कम हो गई है, अपितु दूध भी बहुत कम और कम-गुण वाला हो गया है।

डर को दूर करो।

(श्री किशोरीलाल मशरूवाला)

साधुओं में एक कथा प्रचलित है। किसी शहर के बाहर एक साधुपुरुष रहते थे। एक दिन उन्होंने हैजे की डाकिन को नगर की ओर जाते देखा। साधुने उससे पूछा—'तुम क्यों जाती हो ? और कितनों को खाना चाहती हो?'

डाकिन ने कहा—'मुझे भूख लगी है, मैं दो सौ मनुष्यों को खाऊंगी।' उसके बाद फौरन ही शहर में हैजे का दौरा हुआ और करीब दो हजार आदमियों के मरने या बीमार होने के बाद डाकिन लौटती नजर आई। साधुने पूछा—'तुमने यह क्या किया ? दो सौ के बदले दो हजार को खा डाला ?' जवाब मिला—'नहीं, महाराज ! मैंने तो सिर्फ दो सौ ही खाये हैं। बाकी तो डर से मर गए ! उनकी मौतके लिए मैं जिम्मेदार नहीं।'

यह है तो एक कल्पित कहानी, लेकिन इसमें यह समझाने की कोशिश की गई है कि जोखिम की परिस्थितिके कारण दर असल जितना नुकसान होता है या हो सकता है, उससे कहीं ज्यादा नुकसान उसकी कल्पना से होता है। और यह सच है।

सच है कि कभी २ कल्पनाका प्रयोग हिम्मत बनाये रखनेमें, यानी भयवृत्ति को जीतने में भी, किया जाता है। उदाहरण के लिए, डर मालूम होने पर भी पत जाने या फर्ज अदा करने का खयाल न डरने की हिम्मत पैदा करता है। अपनी पत या अपने कर्तव्य के बारे में आदमी की कल्पना जितनी ही तीव्र होती है, उतना ही वह डरको जीत सकता है। जिस घड़ी संकट की तुलना में पत और कर्त्तव्य का महत्व कम लगने लगता है, उसी घड़ी हिम्मत भी जवाब दे देती है। मतलब यह कि उचित रीति से स्वाभिमान, प्रतिष्ठा और कर्त्तव्यपरायणताकी शिक्षा लेना डरको जीतने का एक उपयुक्त साधन है। इसी तरह योग्य साथियों का साथ भी निर्भयता को बढ़ाने का एक साधन है।

शिक्षाक्रम का एक भाग प्रारंभ

गत मास की अखंडज्योति में शिक्षा संस्थान का आयोजन शीर्षक लेख छपा था। उसके पांचवें नियम के अनुसार एक वर्ष की शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों के ढेरों प्रार्थना पत्र हमारे पास आये हैं। विद्यालय की व्यवस्था करने में हम शक्तिभर प्रयत्न रहे हैं। परिस्थितियों की कठिनाई के कारण सर्वाङ्गीण विद्यालय की विशाल योजना के कार्यान्वित होने में बिलम्ब होसकता है। तब तक शिक्षार्थी बन्धु धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा करें। व्यवस्था होते ही उन्हें बुलाने के लिए लिखेंगे।

विद्यालय के एक अंक का प्रारंभ इसी मास से किया जारहा है। बड़ी आयुके कार्य व्यस्त सज्जनों के कितने ही पत्र हमारे पास आते रहते हैं कि वे थोड़े समय अखंडज्योति के साथ रह कर आत्मशान्ति, मनोवल और प्रेरणा प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वे अपने व्यस्त कार्यक्रम में से अधिक समय नहीं निकाल सकते। नौकरी व्यापार, खेती, या अन्य उत्तरदायित्वों से इतना समय उन्हें नहीं मिल सकता कि कई महीने या वर्ष दिन तक वे यहां ठहर सकें। इस प्रकार के सज्जन अपनी आन्तरिक व्यथाओं के उपचार के निमित्त हमारे साथ रहना चाहते है, पर अब तक उसके लिए भी कोई समुचित व्यवस्था यहां न थी।

सर्व प्रथम ऐसे लोगों के लिए शिक्षा व्यवस्था करते हुए विद्यालय के एक भाग का उद्घाटन किया जारहा है। क्रमशः अन्य भागों का विस्तार होता चलेगा। इस प्रारंभिक रक्षा के लिए प्रायः दो सप्ताह का अवकाश आगन्तुक शिक्षार्थियों को प्राप्त करना ही चाहिए।

बहुत दिनों से सामर्थ्य से अधिक कार्य करतेर जिनका चित्त ऊबने लगा है, थकान अनुभव करने लगा है, वे थोड़े समय तक यहां आकर अपनी थकान एवं उदासी दूर कर सकते हैं। हानि, वियोग, मृत्युशोक, विश्वास घात, अपमान, आपत्ति, असफलता, प्रतिकूलता आदि के कारण जिनके हृदय पर चोट पड़ी हैं, जिन्हें अपना भविष्य अन्धकार मय, निराशा जनक दिखाई पड़ता है वे अपनी चिन्ता, आशंका अशान्ति, भय, निराशा, व्यथा वेदना एवं पीड़ा को यहां छोड़ जाने के लिए आसकते हैं। उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिए, यहां आने पर उन्हें उचित, व्यवहारिक एवं हितकर प्रकाश प्राप्त हो सकता है।

कोई कठिनाई, उलझन या थकान होने पर भी अपने में सद्गुणों की वृद्धि करने एवं आशा, उत्साह, स्फूर्ति, साहस, निर्भयता, दृढ़ता, विवेक, कर्मकौशल एवं स्पष्ट दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए यहां आया जासकता है। जिन्होंने हमारी पर कायाप्रवेश, मानवीय विद्युत के चमत्कार प्राणचिकित्सा विज्ञान, मैस्मरेजम की अनुभव पूर्ण शिक्षा आदि पुस्तकें पढ़ी हैं वे जानते हैं कि आत्मबलशाली व्यक्तियों का दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। उस विज्ञान की सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव यहा आने वाले को भली प्रकार होसकता है। इस थोड़े समय में ही शिक्षार्थी के मानसिक संस्थान के संशोधन, परिमार्जन, परिवर्तन और अभिवर्धन करने का समुचित प्रबन्ध होगा।

शिक्षार्थी को नौ दिन बराबर हमारे सान्निध्य में उसी प्रकार रहना होगा जिस प्रकार नौमास माता के गर्भ में रहते हैं। ३ दिन वृजभूमि के प्रसिद्ध तीर्थ गोकुल, वृन्दावन और गोवर्धन देखने में लगाये जासकते हैं। दो तीन रोज मथुरा आने जाने में लग जायेंगे इस प्रकार करीब १४-१५ दिन का अवकाश अपने काम से निकालना होता है। इन थोड़े दिनों में कोई एक शिक्षाक्रम किसी पर थोपा न जायगा वरन् आगन्तुक की स्थिति एवं आवश्यकताओं के अनुसार उसके साथ संभाषण, मंत्रणा, विचार परिवर्तन,

आध्यात्मिक प्रयोग, आदि उपायों द्वारा वही तत्व बढ़ाने का प्रबन्ध किया जायगा जिसकी कि उसे आवश्यकता है।

नियम कोई विशेष नहीं है। अपने घर की तरह मथुरा चले आवें और अपने कुटुम्ब में जिस प्रकार रहते हैं उसी प्रकार हमारे घर, हमारे साथ रहें, भोजन करें और शिक्षा प्राप्त करें। इसके बदले किसी प्रकार की आर्थिक शर्तबन्दी नहीं है। सीमित व्यक्तियों को एक साथ यहां रहने की व्यवस्था हो सकती है इसलिए अपने आने की तिथि के बारे में पहले स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। महीने की पहली या सोलह तारीख को यहां आना चाहिए। इस योजना से वे ही सज्जन लाभ उठाने के इच्छुक सज्जनों को अपना पूरा परिचय और आने का खास प्रयोजन सविस्तार लिखकर भेजना चाहिए और स्वीकृति प्राप्त होजाने पर तब मथुरा पधारना चाहिए एकाएक बिना सूचना या बिना स्वीकृति के चले आने वालों की शिक्षा या व्यवस्था का उत्तर दायित्व हमारे ऊपर न होगा।

—अखंडज्योति सम्पादक

संसार का काम, इष्टदेव का काम समझ कर करो। इससे वह बन्धन का कारण न बनकर मुक्ति का कारण होगा।

\+ + +

अपनी इन्द्रियाँ ही शत्रु, समझी जाती हैं, किन्तु इनको जीत लेने पर, मनुष्य की सब इन्द्रियां ही मित्र का काम देने लग जाती हैं।

\+ + +

जो व्यक्ति विषयों में दिन रात रत रहता है, उसीको बद्ध कहना चाहिये, और जो व्यक्ति विषयों में विरक्त है, वही विमुक्त है।

\+ + +

जिसकी विषयों में अधिक तृष्णा है, उसीको दरिद्र कहना चाहिए।

\+ + +

हम स्थितप्रज्ञ बनें।

(श्री दीनानाथजी दिनेश)

स्थित प्रज्ञ का हृदय समुद्र के समान होता है। समुद्र अपने आपमें पूरा भरा रहता है। उसमें यदि नदियां कम जल लाती हैं, तो कमी नहीं होती और नदियां बहुत जल लाती हैं, तो समुद्र बह कर नहीं निकलता। ठीक यही स्थितिप्रज्ञ की स्थिति है। वह समुद्र की भांति गंभीर रहता है। यदि विषय नहीं मिलते तो सूख नहीं जाता और यदि सारे विषय उसमें अपने ही आप नदियों की भांति आते हैं, तो वह इतरा कर अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता।

जैसे ब्रह्म पूर्ण है। उसमें घटा बढ़ी नहीं होती। वह विषयों के पास नहीं जाता, इसी प्रकार ब्रह्म में टिका हुआ स्थित प्रज्ञ पूर्ण हो जाता है। सुख दुःख उसे बढ़ा घटा नहीं सकते। वह अचल रहता है, शान्त रहता है और संसार के सारे भोग उसमें अपने आप आकर पड़ते हैं।

संसार की ऐसी रीति है कि जो यहां कुछ चाहता है, उसे कुछ नहीं मिलता, और जो कुछ नहीं चाहता, उसे सब कुछ मिल जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

सब सुख सम्पति बिनहिं बताये।
धर्म शील पहं आप सुहाये॥

स्थित प्रज्ञ में संसार के सारे विषयभोग स्वयं आकर समा जाते हैं। वह शान्त, गंभीर और अचल होकर प्रतिष्ठा में रहता है। काम कामी अर्थात् कामनाओं को चाहने वाला कभी कुछ नहीं पाता। कामनाओं की पूर्ति न होने से वह सूखता रहता है और मिलने पर इतरा जाता है, किसी भी दशा में उसे शान्ति नहीं मिलती।

समुद्र की भांति विशाल-हृदय होना शान्ति पाने का एक मात्र उपाय है।

इच्छा शक्ति से उत्कर्ष।

(श्री अयोध्याप्रसाद 'अचल')

मानसिक विकास से मेरा तात्पर्य उन असाधारण शक्तियों से है जो कभी-कभी किसी मानवविशेष में उदय होकर उसके जीवन को विश्व के रंगमंच पर चमका दिया करती हैं। लोग देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उनकी समझमें भी नहीं आता कि उन्हीं से समान योग्यता रखने वाला एक साधारण व्यक्ति कैसे इस स्थितितक पहुंच गया? उदाहरण के लिए हिटलर को ही ले लीजिये। एक साधारण स्थिति के निर्धन व्यक्ति का लड़का था। परिस्थितियां भी कोई विशेष अनुकूल न थीं फिर भी उसने अपने पराक्रम के बल पर एक बार संसार की ईंट-से-ईंट बजा दी। यूरोपीय ही क्यों प्रायः सभी छोटे-बड़े देश इस हलचल में डगमगाने लगे थे। किसी को स्वप्न में भी विश्वास न था कि पददलित जर्मन राष्ट्र का एक व्यक्ति इस प्रकार एक भीषण ज्वालामुखी का रूप धारण कर विश्व के कोने-कोने में आग उगलने लगेगा।

स्वयं अपने देश के इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएँ देखने को मिल सकती हैं। महाभारत में एकलव्य का चरित्र उल्लेखनीय है। एक साधारण भील के घर में जन्म लेकर उसने बाणविद्या में जो कौशल दिखलाया वह द्रोणाचार्य के हृदय को भी प्रभावित किये बिना न रह सका।

अब उपर्युक्त उदाहरणों में एकलव्य और हिटलर की महत्ता का क्या कारण हो सकता है। यदि कहा जाय 'वंशपरम्परा' तो दोनों ही ऐसे साधारण परिवार में जन्मे थे जिनमें उत्पन्न व्यक्ति से कभी ऐसी आशा ही नहीं की जा सकती थी। शूद्र तो सामाजिक बन्धनों के अनुसार बाणविद्या के किसी प्रकार अधिकारी ही न थे। रहा वातावरण—वह भी इस प्रकार की महान् विभूतियों को जन्म देने के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। कितने ही उसी श्रेणी के व्यक्ति उसी वातावरण में पलकर भी उनका अंशमात्र भी न हो सके। तब हमें मानना पड़ेगा कि इन दो के अतिरिक्त कोई और भी शक्ति है जो व्यक्ति के जीवन के निर्माण में सहायक होकर उसे सफलता के मार्ग पर आगे बढ़ा सकती है।

इस पर अधिक प्रकाश डालने के लिए हम एकलव्य का ही जीवन लेते हैं। व्यक्ति की महत् की ओर बढ़ने की इच्छा स्वाभाविक होती है। कुछ अनायास ही स्वनिश्चित महत्तम लक्ष्य की ओर खिसके चले जाते हैं। कुछ अपने को असमर्थ मानकर उधर देखते भी नहीं और कुछ मार्ग की कठिनाइयों से हार मानकर बैठ रहते हैं। इनमें से प्रथम की सफलता तो अनिवार्य ही है और शेष सभी की यदि असम्भव कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। कुरु और पाण्डु के पुत्रों को बाणविद्या का अभ्यास करते हुए देखकर वह भी उसी लालसा से प्रेरित हो उनके गुरु द्रोणाचार्य के पास जाता है। शूद्रकुलोत्पन्न होने के कारण वह इसका अधिकारी नहीं समझा जाता। द्रोणाचार्य के इस अभिप्रायको जानकर वह अपना-सा मुंह लेकर रह जाता है। पर उसकी वह लालसा इतनी तीव्र थी कि वह उसका दमन न कर सका। गुरु द्रोणाचार्य की एक मूर्ति बनाकर वह एकान्त में जा बाणविद्या का अभ्यास करने लगा। उसका कौशल बढ़ते-बढ़ते यहां तक जा पहुंचा कि पाण्डुनन्दन उसके सामने अपने को तुच्छ समझने लगे। गुरुकी अध्यक्षता में निरन्तर अभ्यास करते हुए भी वे अपने को इतना समर्थ न बना सके थे। इसका क्या कारण था? एकलव्य में कोई तो बात ऐसी अवश्य थी जो पाण्डुनन्दनों में न थी। इसे जानने के लिए हमें कोई विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता न पड़ेगी। थोड़ा ही ध्यान देते ही हम देखेंगे कि एकलव्य जो चीज लेकर गुरु के पास गया था वह थी उसकी 'इच्छा'। इच्छा के अतिरिक्त कोई भी दूसरी सुविधा उसके पास न थी। 'इच्छा

भी कोई साधारण इच्छा नहीं जो जरा-सी ठेस लगते ही अन्तरमुखी होकर सदाके लिए विलीन हो जाती, प्रत्युत वह तो उसका वह दुर्दमनीय रूप लेकर गया जो अपने प्रभाव से व्यक्ति को उसके स्वाभाविक पथ से हटाकर विशिष्ट की ओर ले जाती है। वह विवश हो जाता है। एकलव्य के जीवन में यह उनकी इसी 'इच्छा-शक्ति' का प्रभाव था जो वह उन्नति के उस उच्च: स्तरतक पहुंच सका। अपनी इसी शक्ति के बल पर उसने असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया। यही बात हम हिटलर के भी जीवन में पाते हैं। नेपोलियन के जीवन में भी यही बात थी और यदि कहा जाय कि संसार के प्रत्येक महापुरुष के जीवन में यही बात पायी जाती है तो अनुचित न होगा।

अब स्वाभाविक प्रश्न यह होता है कि यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है या किसी-किसी में ? यदि प्रत्येक में पाई जाती है तो सभी में उसका उदय क्यों नहीं होता और यदि किसी-किसी में तो उन विशेष व्यक्तियों को ही क्यों प्रकृति की यह सुविधा प्राप्त होती है ?

मनोविज्ञान हमें बतलाता है कि हमारी सभी प्रवृत्तियां जन्म जात होती हैं। अनुकूल वाता-वरण पाकर कोई भी प्रवृत्ति जाग्रत हो सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई नवीन प्रवृत्ति भले ही न उदय हो सके पर जाग्रत प्रवृत्ति को 'इच्छाशक्ति' के आधार पर किसी ओर भी मोड़ा जा सकता है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि व्यक्ति की महत् की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, इसी को यदि प्रबल इच्छा-शक्ति का सहारा मिल जाय तो व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में समर्थ हो सकता है। धीरे २ परिवर्तित होते हुए उसकी प्रवृत्ति दूसरा ही रूप धारण कर लेती है। अब प्रश्न इस क्रमिक परि-वर्तन के साथ २ प्रत्यावर्तनका है। किस प्रकार व्यक्ति इस शक्ति को अर्जित कर अपने लक्ष्यभेद तक पहुंच सकता है ? इसका उत्तर पाने के लिए हमें 'इच्छा' का विश्लेषण करते हुए आगे बढ़ना होगा।

किसी भी दूसरी ओर अपनी शक्तिका अपव्यय करने का अर्थ होगा लक्ष्य से उतनी ही दूर पड़ जाना। उतनी वह शक्ति भी यदि इसी ओर लगा दी जाती तो सम्भवतः उस मार्ग में और अधिक आगे बढ़ा जा सकता था। अतः लक्ष्य को स्थिर कर लेने के अनन्तर आवश्यकता है एकाग्रनिष्ठा और अध्यवसायकी। इतने में ही सब कुछ नहीं समझ लेना चाहिये। इनके अतिरिक्त सबसे बड़ी आवश्यकता है आत्मविश्वास की। जब तक आपको स्वयं अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं आप कभी कुछ भी करने में सफल नहीं हो सकते। इसके बिना 'इच्छा शक्ति' की वृद्धि असम्भव ही समझिये। आप निश्चित समझिये कि जिस कार्य को आपने हाथ में लिया है आप उसे करने में पूर्ण समर्थ हैं। कोई भी बाधा, कोई भी कठिनाई आपको रोक न सकेगी। उसके विपरीत यदि आप प्रारम्भ में ही भयान्वित हो आत्मविश्वास को खो बैठे तो 'हार' निश्चित समझिये। कोई भी शक्ति आपको सफल होने में सहायता नहीं दे सकती। इतना जान लेनेके बाद हम इस परिणामपर पहुंचते हैं कि हम उक्त मानवीय गुणों का सहारा लेकर अपनी इच्छा-शक्तिके द्वारा बड़े से बड़ा कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं।

अतः हम अन्त में इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में 'इच्छाशक्ति' का भी बहुत बड़ा हाथ है। इसके आधार पर बड़े-बड़े असम्भव कार्यों को भी सम्भव करे दिखलाया जा सकता है और दिखलाया जा रहा है। इसी की न्यूनता और अधिकता पर जीवन की सफलता की न्यूनता और अधिकता अव-लम्बित है। वंशानुक्रम और वातावरण की सारी कमियों को व्यक्ति 'इच्छा-शक्ति' के द्वारा प्राप्त कर लक्ष्य भेद की ओर अग्रसर हो सकता है।

शास्त्र मंथन का नवनीत।

विद्या वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद्देशांतरं हृष्टः॥

जब तक मनुष्य देश देशान्तरों में भ्रमण नहीं करता, तब तक वह विद्या, धन और कला-कौशल का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

व्यापारांतरमुत्सृज्य वीक्षमाणो वधूमुखम्।
यो गृहेष्वेवनिद्राति दरिद्राति स दुर्मतिः॥

जो मनुष्य कारबार को छोड़ कर स्त्री का मुख देखता हुआ घर में बैठा रहता है वह मूर्ख दरिद्री होता है।

वदेद् वृद्धानुकूलं यन्न बालसदृशं क्वचित्।
परवेश्मगतस्तत्स्त्री-वीक्षणं न च कारयेत्॥

सदा ज्ञान में वृद्ध पुरुषों के अनुकूल बोले, बालकों की भाँति बक बक न करे। दूसरे के घर में जाकर उसकी स्त्री की ओर कभी न देखे।

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

"यह मेरा है और यह पराया है" ऐसा तुच्छ चित्तवालों का विचार है। उदार पुरुषों के लिये तो सारी पृथ्वी ही कुटुम्ब के समान है।

अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते।
उपकारिषु यः साधुः साधुत्वं तस्य को गुणः॥

जो अपकार करने वाले के साथ भी उपकार करता है वही सज्जन है, और उपकार करने वाले के साथ उपकार करने में क्या सज्जनता है? (यह तो बदला चुकाना है)।

जीवामि शतवर्षं तु नन्दामि च धनेन वै।
इति बुद्ध्या संचिनुयाद्धनं विद्यादिकं सदा॥

मैं सौ वर्ष तक जीऊंगा और धन से आनन्द भोगूंगा, यह निश्चय करके धन और विद्या का उपार्जन करे।

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥

बाल्यावस्था में जिसने विद्या नहीं पढ़ी, युवावस्था में धन नहीं पैदा किया और वृद्धावस्था में धर्म नहीं किया, वह मरने के समय क्या करेगा?

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः॥

अपने ही कर्मों से मनुष्य ऊंचा चढ़ता है और गिर जाता है। जैसे कुएं का खोदने वाला नीचे आता है और दीवार का बनाने वाला ऊंचा चढ़ता है।

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
कातरा इति जल्पंति यद्भाव्यं तद्भविष्यति॥

कार्य उद्यम करने से ही पूरे होते हैं, केवल इच्छा करने से नहीं। "जो होनहार है वह होगा" ऐसा आलसी मनुष्य कहते हैं।

उद्यमः, साहस, धैर्यं, बुद्धिः, शक्तिः, पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्त्तंते तत्र दैव सहाय कृत्॥

उद्योग, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छः गुण जिसमें होते हैं, भाग्य भी उसी की सहायता करता है।

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

दुष्टों की विद्या विवाद करने के लिये, धन अभिमान करने के लिये और शक्ति दूसरों को कष्ट पहुंचाने के लिये होती है, परन्तु सज्जनों की विद्या ज्ञान के लिये, धन दान के लिए और शक्ति दूसरों की रक्षा करने के लिए होती है।

गुणिनागुणेषुसत्स्वपिपिशुनजनोदोषमात्रमादत्ते।
पुष्पे फले विरागी क्रमेलकः कण्टकौघमिव॥

जैसे ऊंट फल फूलों से प्रीति न करके केवल काँटों को खाता है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य गुणियों में गुण के रहते हुए भी उनके दोष ही को देखता है।

रजिस्टर्ड नं० ए० ५६७

'अखंड ज्योति' मथुरा।

संभल संभल कर चल राही !

(श्री भगवतीचरणजी वर्मा)

कदम-कदम पे चलने वाले, सम्हल-सम्हल कर कदम कदम !

एक पहेली सी फैली है, यह अन जानी राह यहां,
जग के सपनों से लिपटी है युग संसृति की आह यहां।
कितने ही अरमान सिसक कर मिट्टी में मिल चुके अरे—
और आंसुओं से निर्मित हैं कितने उदधि अथाह यहां ।।

तेरे उर में अनियन्त्रित गति, तेरे नयनों में विभ्रम,
कदम-कदम पे चलने वाले संभल.संभल कर कदम कदम।

सुना यहा पर एक प्यास है और प्यास में एक जलन,
कुछ उसको पुलकन कहते हैं, कुछ उसको कहते तड़पन।
इस पुलकन को हंसी कहो या इस तड़पन को रुदन कहो—
हंसी-रुदन की सीमाओं से भरा हुआ है. यह जीवन ।।

इस जीवन का एक मरम है, हंसी रुदन का एक मरम,
कदम-कदम पे चलने वाले संभल संभल कर कदम कदम !

अपनी हस्ती के मद में कुछ पड़े हुए मदहोश यहां,
अपनी निर्बलता से पीड़ित कुछ बैठे खामोश यहां।
अन्तहीन इस विस्तृत पथ पर असफलता का मेला है—
कुचल न दे उन बेचारों को इन पैरों का जोश यहां ।।

पतितों ही के लिया मिला है, तुझे यहां पर दया धरम,
कदम-कदम पे चलने वाले, संभल संभल कर कदम कदम !

सुधा पात्र तू लिये हुए है, विश्व लिये है यहां गरल,
जग में है विकराल अनल, तुझमें है सुख सुषमा कोमल।
अरे अमर ! तू आज हलाहल का प्याला हंस कर पीजा,
और लुटा दे सुधा अमरता का प्यासा है विश्व विकल ।।

तू समर्थ ? तू स्वामी है, तू स्रष्टा है और परम !
कदम-कदम पे चलने वाले, संभल संभल कर कदम कदम !

—मानव